CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

14-7

प्राकृत विद्या

5174

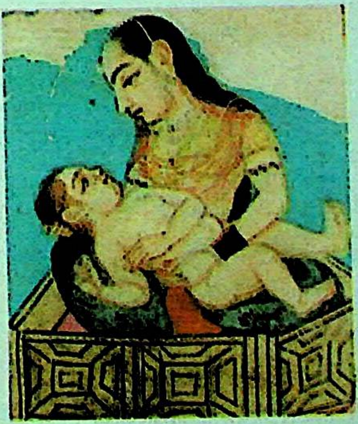

51:74

माँ त्रिशला के राजदुलारे 'वर्द्धमान'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की 2594 वीं जन्म जयन्ती पर विनयाञ्जलिसहित)

तीर्थंकर वर्द्धमान

अन्य नाम	वर्द्धमान (वीर, अतिवीर, सन्मति, महावीर)
तीर्थंकर क्रम	चतुर्विंशतम
जन्मस्थान	क्षत्रिय कुण्डग्राम
पितृनाम	सिद्धार्थ
मातृनाम	त्रिशलादेवी (प्रियकारिणी)
वंशनाम	नाथवंश (ज्ञातृवंश,'नाठ'-इति पालि:)
गर्भावतरण	आषाढ़ शुक्ला षष्ठी, शुक्रवार, 17 जून 599 ई०पू०।
गर्भवास	नौमास, सात दिन, बारह घंटे
जन्मतिथि	चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, सोमवार, 27 मार्च, 598 ई०पू०।
वर्ण (कान्ति)	स्वर्णाभ (हिमवर्ण)
चिह्न	सिंह
गृहस्थितरूप	अविवाहित (प्रसंग चला, परन्तु विवाह नहीं हुआ)
कुमारकाल	28 वर्ष, 5 माह, 15 दिन
दीक्षातिथि	मंगसिर कृष्णा 10, सोमवार, 29 दिसम्बर 569 ई०पू०।
तप	12 वर्ष, 5 मास, 15 दिन
कैवल्य	वैशाख शुक्ला 10, रविवार 26 अप्रैल, 557 ई०पू०।
देशनापूर्वमौन	66 दिन
देशनातिथि (प्रथम)	श्रावण कृष्णा प्रतिपदा, शनिवार, 1 जुलाई 557 ई०पू०।
निर्वाणतिथि	कार्तिक कृष्णा 30, मंगलवार, 15 अक्टूबर 527 ई०पू०।
निर्वाण-भूमि	पावा (मध्यमा पावा)
आयु	72 वर्ष (71 वर्ष, 4 मास, 25 दिन)
जन्म-समय की ज्योतिर्ग्रहस्थिति	नक्षत्र – उत्तरा फाल्गुनि
	राशि – कन्या
	महादशा – बृहस्पति
	दशा – शनि
	अन्तर्दशा – बुध
पूर्व भव	अच्युतेन्द्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

5174

प्राकृत-विद्या

पागद-विज्जा

शौरसेनी, प्राकृत एवं सांस्कृतिक मूल्यों की त्रैमासिकी पत्रिका

वर्ष 7 | जनवरी-मार्च 1996 | अंक 4

मानद प्रधान सम्पादक
डॉ० राजाराम जैन
*
सम्पादक
डॉ० सुदीप जैन, एम.ए. प्राकृत

सम्पादक मण्डल
डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री, नीमच
डॉ० प्रेमसुमन जैन, उदयपुर
डॉ० उदयचन्द जैन, उदयपुर
पं० जयकुमार जैन, नई दिल्ली

प्रबंध सम्पादक : पं० महावीर शास्त्री

प्रकाशक
श्री सुरेश चन्द्र जैन
श्री कुन्दकुन्द भारती (प्राकृत भवन)
18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया
नई दिल्ली – 110067

दूरभाष–(011) 664510
फैक्स– (011) 6856286

★ वार्षिक सदस्यता शुल्क – पचास रूपये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुक्रम

क्र.	शीर्षक	लेखक	पृष्ठ सं०
1.	मंगलाचरण		3
2.	सम्पादकीय		4
3.	प्राकृतभाषा और साहित्य का महत्त्व	डॉ० राजेन्द्र प्रसाद	8
4.	तथ्यों के आलोक में तीर्थंकर महावीर	श्रीमती रंजना जैन	9
5.	भगवदो महावीरस्स जीवण-दंसणं	उदयचन्द्र जैन	18
6.	प्राकृत वैयाकरण 'शाकल्य'	मुनिश्री कनकोज्ज्वलनंदि	23
7.	ऋषभ-स्तोत्र	आचार्य पद्मनन्दि	26
8.	प्राकृतभाषानिबद्ध महापुराण	डॉ० बी०के० खडबड़ी	28
9.	भारतीय आर्यभाषायें एवं प्राकृतभाषा	प्रो० (डॉ०) प्रेमसिंह	33
10.	विज्ञजनों से विनम्र अनुरोध	पं० जयकुमार उपाध्ये	36
11.	न्यायाचार्य पंडित महेन्द्रकुमार	राहुल सांकृत्यायन	40
12.	श्रवण-परम्परा	आचार्यश्री विद्यानन्द जी	46
13.	जैनधर्म-दर्शन का विश्वव्यापित्व	डॉ० सुदीप जैन	49
14.	प्राचीन जैनसाहित्य में पाटलिपुत्र	प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन	56
15.	शंखध्वनि एवं सिंहनाद	हरिचरण वर्मा	65
16.	सन्मतिसूत्र में एक विचारणीय पाठ		69
17.	विद्यानन्दाष्टकम्		72
18.	समयसार के पाठ		75
19.	'पञ्चास्तिकायसंग्रह' की पाण्डुलिपियाँ	श्रीमती जैनमति जैन	77
20.	एक महत्त्वपूर्ण पत्र		87
21.	पुस्तक समीक्षा		89
22.	अभिमत		91
23.	समाचार-दर्शन		93

"नामाख्यातोपसर्गेषु, निपातेषु च संस्कृता।
प्राकृती *शौरसेनी* च, भाषा यत्र त्रयी स्मृता।।"

—आचार्य रविषेण, 'पद्मपुराण', 24/11

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मंगलाचरण

महावीर-स्तवन : आशाधर सूरि

(मदाकुलक राग)

सन्मति-जिनपं सरसिज-वदनं। संजनिताखिलकर्मकमथनं।
पद्मसरोवर-मध्यगतेन्द्रं। पावापुरि महावीर-जिनेन्द्रं।।1।। पदम्०
वीर भवोदधिपारोत्तारं। मुक्तिश्रीवधु-नगरविहारं।
द्विर्द्वादशकं तीर्थपवित्रं। जन्माभिषकृत-निर्मलगात्रं।।2।। पदम्०
वर्धमाननामाख्य-विशालं। मानप्रमाणलक्षण-दशतालम्।
शत्रुविमथन-विकट-भटवीरं। इष्टैश्वर्य-धुरी-कृतदूरं।।3।। पदम्०
कुंडलपुरि सिद्धार्थभूपालं। तत्पत्नी-प्रियकारिणि-बालं।
तत्कुलनलिन-विकाशित-हंसं। घातपुरोघातिक-विध्वंसं।।4।। पदम्०
ज्ञान-दिवाकरलोकालोकं। निर्जित-कर्मारातिं-विशोकं।
बालत्वे संयमसुपालितं। मोहमहानलमथन-विनीतं।।5।। पदम्०

अर्थः—सन्मतिप्रदाता जिनप्रवर, कमलवदन, उपार्जित समस्त कर्मसमूह के विनाशक, पावापुरीस्थ पद्मसरोवर के मध्यगत (निर्वाणप्राप्त) श्री महावीर जिनेन्द्र (की मैं वन्दना करता हूँ)।।1।।

— संसाररूपी समुद्र के पार उतारनेवाले 'वीर', मोक्षलक्ष्मीरूपी कुलवधु के नगर में विहार करनेवाले, पवित्र चौबीसवें तीर्थंकर जो कि जन्माभिषेक से निर्मल शरीरवाले हैं, (ऐसे महावीर जिनेन्द्र की मैं वन्दना करता हूँ।)।।2।।

— 'वर्द्धमान' नामवाले विशाल व्यक्तित्व के धनी, समचतुरस्र संस्थान से सुशोभित शरीर वाले हैं जो, (कर्मरूपी) शत्रुओं को निर्मूल करने के लिए अत्यन्त शूरवीर योद्धा हैं, सांसारिक भोगों एवं वैभव के मूल 'ममत्व' को दूर करनेवाले (महावीर जिनेन्द्र की मैं वन्दना करता हूँ।)।।3।।

— जो कुंडलपुरी के राजा सिद्धार्थ की रानी प्रियकारिणी (त्रिशला) के पुत्र हैं एवं उनके कुलरूपी कमल को विकसित करनेवाले हंस हैं तथा जिन्होंने प्राक् अवस्था में ही घातिया कर्मों का विध्वंस कर दिया है (ऐसे महावीर जिनेन्द्र की मैं वन्दना करता हूँ।)।।4।।

— जो ज्ञानरूपी सूर्य से लोकालोक को प्रकाशित करते हैं, पूर्वोपार्जित कर्मों को नष्ट कर शोकरहित हो गये हैं, बाल्यावस्था से ही जिन्होंने संयम का भलीभाँति पालन किया है, तथा मोहरूपी दावानल को शान्त करने वाले विनयसम्पन्न (महावीर जिनेन्द्र की मैं वन्दना करता हूँ)।।5।। ✶✶

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्पादकीय

"भारत-भारती : शौरसेनी"

—डॉ० सुदीप जैन

धवलाकार ने प्राकृतभाषा को जीव के स्वाभाविक गुणों से सम्पन्न भाषा माना है—"जीवस्स साभावियगुणेहिं ते पागदभासाए"। वस्तुतः जैसे देखना, सुनना, चलना-फिरना आदि समस्त क्रियायें प्रकृति-प्रदत्त हैं, मनुष्य ने कृत्रिमरूप से बनायी नहीं हैं; उसीप्रकार बोलने की क्रिया भी प्रकृतिप्रदत्त है, प्राकृत है। और संयोगवश से जैसी भाषा स्वाभाविकरूप से बोली जाती है, उसे भी 'प्राकृत' नाम दिया गया है। सन्त एकनाथ इसे 'दिव्यवाणी' मानते हैं; वे लिखते हैं—"संस्कृतवाणी देवे केली, प्राकृतमात्र चोरा पासुनि झाली?" अर्थात् संस्कृत यदि देववाणी है, तो प्राकृत कोई चोरों की भाषा है क्या? वह भी तो संस्कृत के समान ही दिव्यभाषा है। इसे विद्वानों ने न केवल बोलने के लिए, अपितु साहित्य-सृजन के लिए भी सर्वाधिक उपयुक्त भाषा माना है। वे लिखते हैं—

"अल्पार्थः सुखोच्चारः शब्दः साहित्यजीवितम्।
स च प्राकृतमेवेति मतं सूत्रानुवर्तिनाम्।।" —*(प्राकृत शब्दानुशासन, 7)*

अर्थात् साहित्य को संजीविनी प्रदान करने के लिए ऐसे शब्दों की आवश्यकता होती है, जिनमें अर्थ की बहुलता हो और सुखपूर्वक उच्चारण हो तथा इसके लिए सूत्रानुवर्तियों ने प्राकृत को ही सर्वाधिक उपयुक्त भाषा माना है।

संत ज्ञानेश्वर कहते हैं कि "आगामी आम्हां प्राकृतां देशिकारें बंधे गीता। म्हणणें हें अनुचिता? कारण नोहे।" अर्थात् इसीलिए मैंने प्राकृत-देशभाषा में गीता की रचना की है। कुछ अनुचित तो नहीं किया?

क्षेत्रगत उच्चारणभेद का ज्ञान भी प्राकृतभाषा के विश्वरूपत्व से हो सकता है, अन्यथा एक शब्द का उच्चारण किसी क्षेत्र में किसी तरह से होता है, तो अन्य क्षेत्र में वह इतना बदल जाता है कि कभी-कभी अर्थ की जगह अनर्थ का सूचक बन जाता है। जैसेकि सामान्य 'स' या 'श' को मरुप्रदेश में 'ह' उच्चारण किया जाता है। अब किसी को आशीर्वाद देना हो कि 'शतायु भव' अर्थात् 'सौ वर्ष जियो', तो मरुप्रदेशवासी बोलेगा 'हतायु भव'— जिसका शब्दगत अर्थ होगा कि 'तुम्हारी आयु नष्ट हो जाये, तुम मर जाओ'; इस तरह आशीर्वाद भी अभिशाप बन जायेगा। इस बारे में मूलपद्य इसप्रकार है—

"आशीर्वादोऽपि नो ग्राह्यो, मरुस्थलनिवासिनाम्।
'शतायु'रित्युक्तेऽपि, 'हतायु'रित्युच्यते।।"

जबकि उस क्षेत्र की प्राकृतभाषा के ज्ञान से इस मतिभ्रम का निवारण हो सकता है।

प्राकृतभाषा के क्षेत्रगत उच्चारण-वैविध्य एवं तत्तत्क्षेत्रीय शब्द-सम्पदा की प्रमुखता के कारण कई भेद रहे हैं, किन्तु उनमें साहित्यिक प्राकृत के रूप में एकमात्र शौरसेनी प्राकृत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को ही विद्वानों ने निर्विवादरूप से माना है।'मृच्छकटिक' नाटक में विदूषक जब सामान्यजनों को प्रतिबोध के लिए संस्कृत बोलते-बोलते कहता है कि "अब मैं प्राकृतभाषी हो जाता हूँ''; तो वह जो प्राकृत बोलता है, वह विशुद्ध शौरसेनी प्राकृत होती है। शौरसेनी प्राकृत में शब्दभण्डार, भाषागौरव, उच्चारणसौकर्य एवं चिरकाल से श्रेष्ठ प्राकृत के रूप में निर्विवादरूप स्वीकृत होने से इसे ही 'साहित्यिक प्राकृत' माना है। संस्कृत नाटकों मे जितना भी प्राकृतभाग है; वह (हीनतासूचक अंश को छोड़कर) सब शौरसेनी प्राकृतमय ही है। संभवत: इसीलिए जब संस्कृतभाषा के अतिरिक्त किसी लोकभाषा में साहित्य के सृजन का विचार प्राचीनकाल में श्रमणों (जैनों एवं बौद्धों) ने किया, तो उन सभी ने शौरसेनी प्राकृत को ही अपने साहित्य का माध्यम बनाया।

हाल ही में श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ में सम्पन्न द्वितीय आचार्य कुन्दकुन्द स्मृति व्याख्यानमाला में विश्वविश्रुत भाषाशास्त्री एवं दार्शनिक विचारक प्रो० नथमल जी टांटिया ने स्पष्टरूप से घोषित किया कि "श्रमण-साहित्य का प्राचीनरूप, चाहे वे बौद्धों के 'तिपिटक' आदि हों, श्वेताम्बरों के आचारांगसूत्र, दशवैकालिकसूत्र आदि हों अथवा दिगम्बरों के षट्खण्डागमसूत्र, समयसार आदि हों—सभी शौरसेनी प्राकृत में ही निबद्ध थे।" उन्होंने आगे सप्रमाण स्पष्ट किया कि "बौद्धों ने बाद में श्रीलंका में एक वृहत्संगीति में योजनापूर्वक शौरसेनी में निबद्ध बौद्धसाहित्य का मागधीकरण किया और प्राचीन शौरसेनी-निबद्ध बौद्ध साहित्य के ग्रंथों को अग्निसात् कर दिया। इसीप्रकार श्वेताम्बर जैन साहित्य का भी प्राचीनरूप शौरसेनी प्राकृतमय ही था, जिसका रूप क्रमश: 'अर्द्धमागधी' के रूप में बदल गया। यदि हम वर्तमान अर्धमागधीमय आगम साहित्य को ही मूल श्वेताम्बर आगम साहित्य मानने पर जोर देंगे, तो इस अर्द्धमागधी भाषा का आज से पन्द्रह सौ वर्ष के पहिले अस्तित्व ही नहीं होने से इस स्थिति में हमें अपने आगम-साहित्य को भी 500 ई० के परवर्ती मानना पड़ेगा।" उन्होंने स्पष्ट किया कि "आज भी 'आचारांगसूत्र' आदि की प्राचीन प्रतियों में शौरसेनी के शब्दों की प्रचुरता मिलती है, जबकि नये प्रकाशित संस्करणों में उन शब्दों का अर्द्धमागधीकरण हो गया है।'' उन्होंने पक्षव्यामोह के कारण ऐसे परिवर्तनों पर खेद व्यक्त करते हुए कहा कि 'ऐसे परिवर्तनों से हम अपने साहित्य का प्राचीन मूलरूप खो रहे हैं।" उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि "दिगम्बर जैन साहित्य में ही शौरसेनी भाषा के प्राचीनरूप सुरक्षित उपलब्ध हैं।" यद्यपि विज्ञपाठक तो प्रो० टांटिया जी से सुपरिचित ही हैं, तथापि मैं यहाँ स्पष्ट कर देना अपेक्षित समझता हूँ कि प्रो० टांटिया जी आज सम्पूर्ण विश्व में बौद्धदर्शन एवं साहित्य के सर्वाधिक प्रामाणिक विद्वानों में से हैं तथा स्वयं श्वेताम्बर जैनकुलोत्पन्न है एवं सम्प्रति श्वेताम्बर आगमसाहित्य के ही अनुवाद आदि कार्यों में निरत वयोवृद्ध-ज्ञानवृद्ध निष्पक्ष विद्वान् हैं। उनके श्रीमुख से ये सब सप्रमाण बातें सुनकर अत्यधिक सन्तोष हुआ, क्योंकि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्य कोई नया व्यक्ति यदि ये बातें कहता भी, तो विद्वज्जगत् एवं समाज उसकी जातिगत या पक्षव्यामोहगत नवीन संज्ञाओं का आविष्कार करके उसे उपहास में उड़ा देते।

सम्पूर्ण भारत के लोकजीवन के स्वरों को मुखरित करने के लिए राष्ट्रीय भाषा के रूप सहस्राब्दियों से शौरसेनी प्राकृत को चुना जाना इसके भारत-भारतीरूप को प्रमाणित करता है।

प्राय: सम्पूर्ण भारतीय लोकभाषाओं पर शौरसेनी का व्यापक प्रभाव रहा है। प्राकृत वैयाकरणों ने अनेकत्र मुक्तकंठ से इसकी स्वीकारोक्ति की है। इस बारे में कतिपय निदर्शन मूलरूप में निम्नानुसार प्रस्तुत हैं–मार्कण्डेयकृत 'प्राकृतसर्वस्व' में–

(i) सूत्र *9.1* (पृ० *106*) "शौरसेनी महाराष्ट्र्या संस्कृतानुगमात् क्वचित्।" यत्र लक्षणविशेषं नास्ति, तन्महाराष्ट्रीवत्। यथा-मादा, पिदा, विंदेदि, किणेदि इत्यादि।

(ii) सूत्र *10.1* (पृ. *122*) "प्राच्या सिद्ध : शौरसेन्या:" – शौरसेनीतिः प्राच्यायाः सिद्धिर्वेदितव्या।

(iii) सूत्र *11.1* (पृ० *125*) "आवन्ती स्यान्महाराष्ट्री शौरसेन्योस्तु संकरात्।"

(iv) सूत्र *12.1* (पृ० *127*) "मागधी शौरसेनीत:।"

(v) सूत्र *14.1* (पृ० *141*) "चाण्डाली मागधी शौरसेनीभ्यां प्रायशो भवेत्।"

(vi) सूत्र *15.2* (पृ० *143*) का भाष्य – "तस्या चाण्डाल्या मूलेभ्य: शौरसेनी-मागधी-शाकारीभ्य:।"

(vii) सूत्र *16.1* (पृ० *147*) "टाक्की स्यात्संस्कृतं शौरसेनी चान्योन्यमिश्रिते।"

(viii) सूत्र *19.1* (पृ० *166*) "पैशाचिकीनां भाषाणां प्रथमा केकयाभिधा।
संस्कृते शौरसेन्यां च सिद्धस्यैवात्र विक्रिया"।। 1216 ।।

(ix) सूत्र *19.20* (पृ० *168*) "इह शेषं शौरसेनीवत्" – शेषं सर्वं सुप्तिङादिकार्यम्।

(x) सूत्र *20.1* (पृ० *169*) "शौरसेनाभिधा तवस्या:।" – अस्या: कैकेय पैशाचिकीत: सिद्धि:।

(xi) पृष्ठ *6*, "कैकेयं शौरसेनं च पाञ्चालमिति त्रिधा।
पैशाच्यो नागरा यस्यात्तेना प्यन्या न लक्षिता:।। 61 ।।

इतना ही नहीं, जिन 'शाकल्य' ऋषि नामक प्राचीन वैयाकरण का संस्कृत वैयाकरण के रूप में आचार्य पाणिनी ने अपनी 'अष्टाध्यायी' में 'लोप: शाकल्यस्य' आदि अनेकों सूत्रों में उल्लेख किया है, उन्हीं का प्राकृत के वैयाकरण के रूप में 'प्राकृतसर्वस्वकार' मार्कण्डेय ने इस सूत्र में उल्लेख किया है–"होश्च शाकल्यमते स्यात्"; और इस सूत्र के द्वारा 'होदि' रूप की सिद्धि की है, जो कि शौरसेनी प्राकृत का रूप है। यह सूत्र विद्वज्जगत् को शाकल्य ऋषि जो कि पाणिनी के असन्दिग्ध पूर्ववर्ती वैयाकरण हैं, के प्राकृत वैयाकरण होने एवं उनके द्वारा शौरसेनी प्राकृत का व्याकरण लिखे जाने की सूचना देता है। उसकी अब क्या स्थिति है? उसकी कोई प्रति किसी ग्रंथभंडार में उपेक्षित पड़ी है अथवा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

काल-कवलित हो चुकी है? —यह अनुसन्धित्सुओं के लिए नया कार्य उपस्थित है।

इतनी प्राचीन एवं व्यापक शौरसेनी प्राकृतभाषा एवं उसका बहुआयामी विपुल शास्त्र-भण्डार अपने परिचय के लिये विद्वज्जगत् का आह्वान कर रहा है। आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज की सद्प्रेरणा से ध्यानाकर्षित होने पर कुछ विद्वान् इस दिशा में प्रवृत्त भी हुए हैं, तथापि कतिपय विद्वान् किसी पूर्वाग्रह या व्यक्तिगत मतभेदों के कारण शौरसेनी प्राकृत के इस उदात्तरूप को स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं। मेरा उनसे विनम्र अनुरोध है कि वह भाषाशास्त्र एवं इतिहास के तथ्यों को निष्पक्षरूप से विचार करें, तथा भले ही मनभेद बनाये रखें; परन्तु उनकी छाया भाषा और साहित्य पर न पड़ने दें, अन्यथा आने वाली पीढ़ियों के लिए सन्देह के जो सूत्र वे छोड़ जायेंगे—न जाने कितने लोग उससे दिग्भ्रमित होंगे।

जो शौरसेनी प्राकृत भारत की आत्मा रही, उसके स्वरों को जिसने मुखरित किया; उसके विकास के लिए कुन्दकुन्द भारती, प्राकृत भवन, नई दिल्ली द्वारा जो सुव्यस्थित कार्यक्रम प्रवर्तित किये गये हैं, उनके सुपरिणाम सामने आने लगे हैं। 'प्राकृतविद्या' की ही प्रसार संख्या प्रारंभ में कुछ सौ तक थी, अब बढ़कर दो हजार प्रसार संख्या हो गयी है, एवं निरन्तर इसकी माँग बढ़ रही है—यह तथ्य पाठकों में 'प्राकृतविद्या' की बढ़ती लोकप्रियता का प्रमाण तो है ही; प्राकृत एवं शौरसेनी के प्रति उनकी विकसत हो रही जिज्ञासा एवं पिपासा का भी प्रतीक है।

**

विभिन्न भाषाओं की वर्णसंख्या

"त्रिषष्ठि: चतुष्षष्ठिर्वा वर्णा शाम्भुमते मता:।
प्राकृते संस्कृते चैव स्वयं प्रोक्ता स्वयंभुव:।।" —*पाणिनीय शिक्षा,3*

क्र०सं०	लिपि	मूलवर्ण संख्या	क्र०सं०	लिपि	मूलवर्ण संख्या
1.	प्राकृत	64	9.	तुर्की	28
2.	संस्कृत	63	10.	स्पेनी	28
3.	उर्दू	36	11.	लेटिन	26
4.	रूसी	36	12.	जर्मनी	26
5.	अपभ्रंश	34	13.	फ्रांसीसी	25
6.	हिन्दी	45	14.	ग्रीक	24
7.	फारसी	32	15.	इटालियन	20
8.	अरबी	28	16.	चीनी	214

इनके अतिरिक्त एक-एक देश में प्रान्तों के हिसाब से विभिन्न भाषाएँ हैं; जैसे—भारत में बंगला, तमिल, उड़िया, तेलगु, मराठी, कन्नड़ आदि। **

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'प्राकृत भाषा और साहित्य का महत्त्व'

—'भारतरत्न' डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

[यह अंश भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी द्वारा लिखित 'प्राकृत साहित्य और वैशाली' नामक लेख से साभार उद्धृत है। उनका यह लेख 'वैशाली अभिनंदन-ग्रन्थ' में पृ०सं० 103 से 107 तक प्रकाशित है। —*सम्पादक*]

सौभाग्य से पालिभाषा के क्षेत्र में बहुत कुछ काम हो चुका है, जिसके फलस्वरूप प्राचीन-कालीन भारत की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति के संबंध में हमारी जानकारी में काफी वृद्धि हुई है। सौ वर्ष के करीब हुए, भारतीय और विदेशी विद्वानों के सहयोग से 'पालि-ग्रन्थ-परिषद्' की स्थापना हुई थी। इस परिषद् ने अनेक ग्रन्थों का सम्पादन कर उन्हें प्रकाशित किया है, किन्तु दुर्भाग्यवश प्राकृत के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। किन्हीं कारणों से हमारा ध्यान उस ओर अधिक नहीं गया है और विदेशी विद्वानों ने भी प्राकृत साहित्य के महत्त्व को बीसवीं सदी के आरम्भ में ही समझा है। यह बताने की मैं आवश्यकता नहीं समझता कि किन कारणों से प्राकृत के क्षेत्र में उतना कार्य नहीं किया जा सका है। यही कह देना पर्याप्त होगा कि इस अभाव को दूर करना और देशभर में बिखरे हुए प्राकृत ग्रन्थों को प्राप्त कर सम्पादन के बाद उन्हें प्रकाशित करना, प्राकृत अनुसन्धानशाला तथा ग्रन्थ परिषद् का उद्देश्य होना चाहिए।

प्राकृत साहित्य के महत्त्व और उसकी विशालता के संबंध में दो शब्द कह देना आवश्यक जान पड़ता है। जहाँ पालि-साहित्य की परम्परा अधिक से अधिक सात शताब्दियों तक चली, वहाँ प्राकृत की परम्परा की अवधि करीब पन्द्रह शताब्दियों तक चलती रही। भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि इंडो-आर्यन परिवार की भारतीय भाषाओं का पालि की अपेक्षा प्राकृत से कहीं अधिक निकट का संबंध है। वास्तव में इस देश की आधुनिक भाषायें पूर्व मध्य युग में प्रचलित विभिन्न प्राकृतों तथा अपभ्रंश की ही उत्तराधिकारिणी हैं। हिन्दी, बंगला, मराठी आदि किसी भी भाषा को लीजिए, उनका विकास किसी न किसी प्राकृत से ही हुआ है। विकास काल में कुछ ऐसे ग्रन्थों की रचना भी हुई जिनका वर्गीकरण निहायत कठिन है, अर्थात् जिनके संबंध में सहसा यह कह देना कि उनकी भाषा प्राकृत है अथवा किसी आधुनिक भाषा का पुराना रूप, आसान काम नहीं। इस दृष्टि से देखा जाय तो आधुनिक भाषाओं की उत्पत्ति और पूर्ण विकास समझने के लिए प्राकृत साहित्य का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है।

**

महावीर जयन्ती के शुभ अवसर पर प्राकृतविद्या के पाठकों को हार्दिक बधाई

—संपादक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथ्यों के आलोक में शासननायक तीर्थंकर महावीर

—श्रीमती रंजना जैन, एम.ए

"ये वीरपादौ प्रणमन्ति नित्यं, ध्याने स्थितास्संयम-योगयुक्ता:।
ते वीतशोका हि भवन्ति लोके, संसाराब्धिं विषमं तरन्ति।।"

आदिब्रह्मा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव-आदिनाथ के सर्वांगीण परिपूर्ण आदर्श व्यक्तित्व से वर्तमान अवसर्पिणीकाल में शाश्वत श्रमण-परम्परा का नवीन संस्करण प्रवर्तित हुआ; भोगभूमि से कर्मभूमि का महत्त्व लोगों ने जाना। उनके मंगलमय जीवनदर्शन में श्रमणचर्या के 'श्रमवान्' एवं 'समतावान्' —दोनों ही रूप प्रतिबिम्बित थे। उनके द्वारा प्रवर्तित श्रामण्य[1] परम्परा के भासमान प्रदीप में समय-समय अन्य तेईस (23) तीर्थंकरों ने अपने स्निग्ध योगदान के द्वारा इसकी मंदतर होती ज्योति को पुन: पूर्णप्रभा के साथ प्रदीप्त किया; इसलिए इस वीतराग जैनशासन के वे 'शासननायक' कहलाये। वर्तमानकाल में जिनका जिनशासन प्रवर्तित है, वे हैं चौबीसवें तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर; वे सम्प्रति प्रवर्तित सम्पूर्ण जैनसंघ एवं श्रमण-परम्परा के शासननायक हैं।

ये चौबीसों तीर्थंकर अहिंसक जीवनवृत्तिवाले उच्चकुलीन क्षत्रिय राजवंशों में उत्पन्न हुए एवं उन्होंने आत्मसाधना के द्वास आत्महित करते हुए धर्मोपदेश द्वारा लोकहित करने का अनुपम आदर्श उपस्थित किया। वे आत्मविद्या के विशारद[2] थे, जो कि क्षत्रियों के द्वारा अनुशासित[3] मानी गयी है। इनकी प्रशंसा में वैदिक पुराणों में स्तुतिगीत लिखे गये हैं। वैदिक 'पद्मपुराण' में कहा गया है कि "इस भारतवर्ष में उच्च श्रावककुलों में उत्पन्न चतुर्विंशति तीर्थंकरों ने केशलोंचपूर्वक प्रकृष्ट तप:साधना से आत्म-कल्याण किया तथा निर्ग्रन्थ दिगम्बर मार्ग का प्रवर्तन/पुरस्करण किया।'[4] वैदिक विचारधारा का यह एक उदात्तपक्ष है कि उन्होंने वैचारिक मतभेद होते हुए भी जैनतीर्थंकरों की उत्कृष्ट जीवनचर्या एवं गुणवत्ता का सम्मान किया तथा उनकी महिमा का भी बखान किया है। मनुस्मृतिकार ने तो यहाँ तक लिख दिया कि "अड़सठ (68) तीर्थों की यात्रा का जो प्रशस्त फल है, वह आदिनाथ (प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव) के स्मरणमात्र से प्राप्त हो जाता है।''[5]

इसी महती तीर्थंकर-परम्परा की इस युग में अन्तिम कड़ी शासननायक प्रभु वर्द्धमान-महावीर का गर्भावतरण वैशाली गणराज्य के प्रधान राजा चेटक की ज्येष्ठ पुत्री प्रियकारिणी त्रिशला, जो कि कुण्डग्राम के अधिपति राजा सिद्धार्थ की सहधर्मिणी थीं, की प्रशस्त कुक्षि में 599 ई०पू० में आषाढ़ शुक्ला 6, शुक्रवार, 17 जून को उत्तर-हस्ता नक्षत्र में हुआ था। गर्भावतरण के पहिले इनकी जन्मदायिनी माँ प्रियकारिणी त्रिशलादेवी ने रात्रि के तीसरे प्रहर में शुभ सोलह स्वप्न[6] देखे थे, जिनका स्वप्नशास्त्र के अनुसार फल जानकर निमित्तशास्त्रवेत्ता राजा सिद्धार्थ[7] ने घोषणा की थी कि "महान् बलशाली, तेजस्वी, अतिशय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानी त्रिलोकपूज्य होनेवाले बालक का अवतरण हो चुका है।'' चूंकि 'शुभ और अशुभ जो घटनेवाला है, प्राय: स्वप्न उसकी सूचना दे देते हैं' —ऐसी भारतीय मान्यता है,[8] अत: इन स्वप्नों का ऐसा सुफल जानकर प्रियकारिणी त्रिशला के हर्ष का पारावार नहीं रहा। उस धर्मात्मा युगल ने अपने आंगन में साक्षात् त्रिलोकपति तीर्थंकर होनेवाले बालक के अवतरण होने का निश्चित शुभसंकेत जानकर जिनेन्द्रपूजनोत्सव आदि का भव्य आयोजन किया तथा याचकों को यथेष्ट उत्तम वस्तुयें दान कीं। नानाप्रकार के मंगल आयोजनों के द्वारा नगरवासियों ने भी अपने हर्ष की अभिव्यक्ति की। सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने भी यह सब जानकर अत्यन्त प्रमोद एवं भक्तिभाव से तीर्थंकर बालक के गर्भकल्याणक की मांगलिक क्रियायें शची द्वारा सम्पन्न करायीं तथा छप्पन कुमारी देवियों को माता (प्रियकारिणी त्रिशला) की सेवा में नियुक्त कर दिया, जिन्होंने अच्छी सेवा-सुश्रूषा एवं विविध मनोरंजनों द्वारा माता को प्रसन्न रखा।

गर्भ के नौ मास, सात दिन एवं बारह घंटे[9] व्यतीत होने पर ई०पू० 598 की चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, 27 मार्च, दिन सोमवार को 'उत्तरा फाल्गुनी' नक्षत्र[10] में 'अर्यमा' योग में एक सर्वांग सुन्दर बालक को प्राची से उदित होनेवाले सूर्य की भाँति जन्म दिया। वैशाली गणतन्त्र का कुण्डग्राम[11] तीर्थंकर बालक की जन्मभूमि होने का सौभाग्य पाकर ऐसा पुलकित था, कि प्रतीत होता था सम्पूर्ण स्वर्ग का वैभव वहाँ उतर आया हो। इन्द्र और शची ने तीर्थंकर बालक के माता-पिता का अत्यन्त बहुमान किया तथा शची ने नवजात शिशु को लाकर सौधर्मेन्द्र को दिया। इन्द्र ने सहस्रलोचन बनकर बालक के उस अद्भुत सौन्दर्य का पान करना चाहा, तथापि तृप्त न हो सका। फिर वह अन्य देवगणों के साथ तीर्थंकर बालक को ऐरावत हाथी पर बैठाकर सुमेरु पर्वत ले गया, जहाँ पाण्डुकवन स्थित शुभ्र शिला-आसन पर 1008 कलशों के द्वारा क्षीरसागर के जल से उसका दिव्य-अभिषेक किया गया। अभिषेक के उपरान्त उस सर्वांग सुन्दर बालक को शची ने दिव्य वस्त्राभूषण[12] पहिनाये तथा प्रचुर प्रमोदोत्सव किया।

राजा सिद्धार्थ के नन्द्यावर्त राजप्रासाद पर फहरा रही ध्वजा पर 'सिंह' का चिह्न अंकित था, अत: अन्तिम तीर्थंकर को 'सिंह-लांछन' निश्चित किया गया।[13] बालक के जन्मक्षण से ही राजा सिद्धार्थ के वैभव, यश, प्रताप आदि गुणों की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होने लगी तथा वह बालक भी दूज के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगा—यह सब देखकर राजा सिद्धार्थ ने अपने दुलारे का नाम अत्यन्त चाव से 'वर्द्धमान' रखा।[14] अनुपम शरीर के धारी उस बालक के शरीर पर शंख, चक्र, कमल आदि 1008 शुभ चिह्न थे तथा वह जन्म से ही अवधिज्ञान आदि तीन ज्ञानों (सुमतिज्ञान, सुश्रुतज्ञान एवं सु-अवधिज्ञान) का धारक था। और क्षायिक सम्यग्दर्शन तो उन्हें पूर्वभव से ही प्राप्त था।

इसके उपरान्त बालसुलभ क्रीड़ाओं के साथ बालक वर्द्धमान स्वनामधन्य हो वृद्धिंगत हुए। जब वे आठ वर्ष के हुए, तब उन्होंने अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ब्रह्मचर्याणुव्रत एवं परिग्रहपरिमाणव्रत–इन पाँच अणुव्रतों की मर्यादा के अनुरूप विधिपूर्वक जीवन-आचरण प्रारम्भ कर दिया।[15]

कुमार वर्द्धमान का आत्मिक, बौद्धिक और शारीरिक विकास अब नये आयाम प्रस्तुत करने लगा था। आपके प्रशान्तचित्त व्यक्तित्व के दर्शनमात्र से अनेकों समस्याओं का समाधान हो जाता है। एक बार संजयंत और विजयंत नामक दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराज तत्त्वविषयक शंकाओं का समाधान करने हेतु इनकी ज्ञानगरिमा की ख्याति सुनकर इनके पास आये, किन्तु इनकी अतिसौम्य, प्रशान्त मुखमुद्रा को देखने मात्र से ही उनके समाधान उन्हें मिल गये। यह अद्भुत प्रसंग देखकर उन मुनियों ने इनका एक और नाम रखा– 'सन्मति'।[16] इसीप्रकार एक मदोन्मत्त गजराज की विनाशकारी प्रवृत्ति को देखकर उन्होंने अपने अतुलबल एवं तेज से उसका मद शांत किया एवं प्रजाजनों को अभय-प्रदान किया; तब प्रजाजनों ने पुलकित होकर अपने राजकुमार को 'वीर' वर्द्धमान नाम से सादर सम्बोधित किया। एक दिन जब वे अपने साथियों के साथ वटवृक्ष पर क्रीड़ा कर रहे थे। संगम नामक एक देव ने राजकुमार वर्द्धमान की निर्भयता की परीक्षा लेने के लिए भयंकर विषधर का रूप धारणकर उन्हें डराना चाहा,[17] किन्तु उन्होंने निश्चिंत भाव से सहज ही उसे क्रीड़ामात्र में अपने मार्ग से दूर कर दिया; इस घटना के बाद संगमदेव ने उनकी स्तुति करते हुए उन्हें 'अतिवीर' संज्ञा से अभिहित किया। इसप्रकार सांसारिक घटनाओं के निमित्त बालतीर्थंकर के ये चार नामान्तर प्रसिद्ध हुए; किन्तु जब महापुरुषों को भी उन्होंने दुर्निवार कामविकार को कुमारावस्था में जीता,[18] तो वे 'महावीर' कहलाये।

राजकुमार वर्द्धमान के युवावस्था में पादन्यास करते ही माता-पिता को उनके विवाह की चिन्ता हुई, तथा वे इस विषय में प्रयत्नरत हुए। किन्तु कुमार वर्द्धमान का मन संसार के बंधनों में फँसकर दुर्लभ मनुष्यभव के बहुमूल्यक्षणों को गँवाना नहीं चाहता था। तब अपने पुत्र को उसी भव में तीर्थंकर होनेवाला जानकर तथा उनके संयम एवं दृढ़मनस्विता को लक्षितकर माता-पिता ने भी विवाह की चर्चा पर जोर नहीं दिया और इसप्रकार 'बालब्रह्मचारी' रहे वर्द्धमान महावीर पाँच बालयति तीर्थंकरों[19] में परिगणित हुए।

एक दिन पूर्वभवों का स्मरण करने पर उन्होंने जाना कि 'मैंने पहिले एक भव में सोलहवें स्वर्ग में इन्द्र के रूप में बाईस सागर आयुपर्यन्त दिव्य भोगोपभोगों को भोगा है; किंतु ये भोग निस्सार ही रहे हैं।'—अत: उन्होंने वैराग्य के पथ पर चलने का दृढ़ संकल्प किया, तब लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी स्तुति करते हुए उनके वैराग्य को प्राणिमात्र के लिए उपकारी बताया। कुमार वर्द्धमान के दृढ़ वैराग्य को जानकर पिता नृपसिद्धार्थ ने याचकों को किमिच्छिक दान[20] दिया। माता के मन में मोह ने जोर तो मारा, किन्तु पुत्र के अभ्युदय की कामना से वह उनके मार्ग की बाधा नहीं बनीं। कुमार वर्द्धमान ने माता, पिता, परिजनों एवं प्रियजनों को आश्वासन देकर उनसे विदा ली।

तपोवन में ले जाने के लिए देवगण 'चन्द्रप्रभा'[21] नामक दिव्य पालकी लेकर आये,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिसमें कुमार वर्द्धमान वैराग्यरस में ओतप्रोत हो द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिंतन करते हुए आरूढ़ हुए। प्रश्न उपस्थित हुआ कि पालकी को कौन उठाये? देवगण अथवा मनुष्य। नृप सिद्धार्थ ने समाधान दिया कि "यह संयम धारण करने का प्रसंग है, और मनुष्य चूंकि संयम धारण कर सकते हैं, अत: पहिले पालकी मनुष्य उठायेंगे।" तदनुसार ही उस पालकी को पहिले मनुष्यों ने उठाया और फिर देवगणों ने उस पालकी को अपने कंधों पर रखा एवं आकाशमार्ग से उसे लेकर 'ज्ञातृखण्डवन' में पहुँचे। उस वन में एक स्वच्छ शिला पर शची ने स्वस्तिक (卐) की रत्नचूर्ण से रचना की और उस पर बैठकर कुमार वर्द्धमान ने समस्त वस्त्राभूषण उतार दिये। मोह-ममता के समस्त चिह्नों को त्यागकर अन्तरंग-बहिरंग ग्रन्थियों को भेदकर निर्ग्रन्थ दिगम्बर दशा को आत्मसात् करते हुए "णमो सिद्धाणं" कहकर पंचमुष्टि केशलोंच पूर्वक दिगम्बर जैन साधुपद अंगीकार किया। तथा सर्वसावद्य[22] का त्यागकर पद्मासन मुद्रा में आत्मध्यान (सामयिक) में लीन हो गये। "करेमि सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि" —इस उच्चारण के साथ ही साथ उन्हें मन:पर्ययज्ञान की प्राप्ति हुई। इसप्रकार 569 ई०पू० में मंगसिर कृष्णादशमी, सोमवार 29 दिसम्बर के दिन 'हस्त' तथा 'उत्तरा' नक्षत्रों के मध्यवर्ती समय में प्रभु का दीक्षा-महोत्सव सम्पन्न हुआ।

दिगम्बरी साधुचर्या अत्यन्त कठिन है; किन्तु जिनकी संसार, शरीर और भोगों से आसक्ति आत्यन्तिकरूप से टूट गयी हो; उनके लिए यह अत्यन्त सहज ही है। श्रमण महावीर समस्त ऐहिक और भौतिक आसक्तियों से अत्यन्त रहित थे, अत: बाह्यरूप से अपार उपसर्ग एवं दु:सह परिषहों के प्रसंग बनने पर भी वे अडोल-अकम्प-अप्रभावित रहे। उनकी तप:साधना का ऐसा विशिष्ट प्रभाव था कि प्रकृत्या-विरोधी जीव भी उनके दर्शनमात्र से बैरभाव भूलकर शांति एवं सह-अस्तित्व की शिक्षा ग्रहण करते थे। विहार करते-करते एक बार श्रमण महावीर कौशाम्बी नगरी पहुँचे, वहाँ पर राजा चेटक की सबसे छोटी पुत्री चन्दना किसी दुष्ट के अत्याचार से पीड़ित हो अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भोगती हुई एक सेठ के भवन के तलघर में बन्दी थी। प्रभु की जयध्वनि सुनकर उसके मन में प्रभु को आहारदान कराने की प्रबल भावना हुई। पुण्य के प्रताप से उसके समस्त बन्धन टूट गये एवं वह कोदों का आहार लेकर श्रमण महावीर की पड़गाहना के लिए प्रस्तुत हुई। और नवधाभक्तिपूर्वक सती चन्दना ने[23] प्रभु को आहारदान किया; यह देखकर देवों ने पंचाश्चर्य प्रस्तुत किये। चन्दना के बाह्यबन्धन तो पुण्य के प्रताप से टूट ही गये थे, प्रभु को आहारदान देकर उसके मोह के बन्ध भी टूट गये और वह वैराग्यपथ की पथिका बन गयी। इसीप्रकार आत्मसाधना करते हुए श्रमण महावीर उज्जयिनी नगरी के समीपस्थ 'अतिमुक्तक' नामक श्मशान को निर्जन प्रदेश जानकर आत्मध्यान करने को ठहर गये, तब वहाँ रात्रि के समय 'स्थाणु' नामक एक रुद्र ने उन्हें विचलित करने के लिए घनघोर उपसर्ग किये;[24] किंतु श्रमण महावीर "कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किं मंदराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्'' की साक्षात् प्रतिकृति बने रहे। अन्त में वह रुद्र थक-हारकर चला गया।

ऐसी उत्कट साधना करते-करते श्रमण महावीर बिहार प्रान्त में 'जृम्भिका' नामक ग्राम के समीप 'ऋजुकूला' नदी के तट पर आये। वहाँ उन्होंने 'साल' वृक्ष के नीचे प्रतिमायोग धारण कर[25] क्षपकश्रेणी के द्वारा समस्त घातिया कर्मों का क्षय करके तेरहवाँ गुणस्थान (अर्हन्त अवस्था) प्राप्त कियां और केवलज्ञान प्राप्तकर प्रभु 'सयोग केवली जिन' बन गये। इस प्रकार श्रमणचर्या के बारह वर्ष पाँच मास पन्द्रह दिवस[26] तक की तपश्चर्या के बाद उन्हें जीवनमुक्त 'सकल परमात्मा' का पद प्राप्त हुआ। इस मंगलकार्य की शुभघड़ी[27] थी **557 ई०पू०** की बैसाख शुक्ल दसमी, रविवार, **26 अप्रैल** को उत्तरहस्ता नक्षत्र के योग की मंगलबेला। इन्द्र ने प्रभु के अरिहन्त बनने का समाचार जानकर अत्यन्त प्रमोद व्यक्त किया तथा कुबेर को तत्काल समवशरण (धर्मसभा) की रचना की आज्ञा दी। कुबेर ने तत्काल ऋजुकूला नदी के तट पर समवशरण की रचना की। देवगण, मनुष्य एवं पशु-पक्षी प्रभु के धर्मोपदेश को सुनने उसमें एकत्रित हुए; किंतु प्रधान श्रोता 'गणधर' के अभाव में प्रभु का उपदेश (दिव्यध्वनि) नहीं हुआ। कुछ दिनों तक समवशरणसहित विहार करते-करते प्रभु 'राजगृही' के निकट 'विपुलाचल' पर्वत पर पहुँचे; वहाँ भी समवशरण रचना हुई, किंतु दिव्यध्वनि नहीं खिरी। सौधर्मेन्द्र ने तब कारण जानकर निकटस्थ सर्वथा योग्य व्यक्ति 'इन्द्रभूति गौतम' नामक प्रकाण्ड ब्राह्मण विद्वान् के पास जाकर उनसे छद्मवेश में जैनतत्त्वज्ञान विषयक शंकाओं का समाधान पूछा। उन्हें जैनतत्त्वज्ञान का अता-पता नहीं था, किन्तु अपने अज्ञान को छिपाने के लिए वे उनके (छद्मवेशधारी इन्द्र के) गुरु से सीधा वाद करने को उनके साथ पहुँचे। समवशरण में मानस्तम्भ को देखते ही मान विगलित हो गया तथा प्रभु की वीतरागमुद्रा के दर्शन से उन्हें सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई तथा वे चार ज्ञानों (अति-श्रुत-अवधि-मन:पर्यय) के धारी होकर तीर्थंकर महावीर के प्रधान शिष्य 'गणधर' बने और मेघगर्जना के समान गंभीर ऊँकारमयी दिव्यध्वनि नि:सृत हुई। इसप्रकार छियासठ दिनों के सुदीर्घ मौन के बाद श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन प्रथम उपदेश हुआ। इस शुभ दिन को चतुर्विध संघ ने 'वीरशासन उदय' के रूप में मनाया।

चतुर्विध संघ के साथ समवशरणसहित विहार करते हुए भव्य जीवों के सौभाग्य एवं प्रभु को तीर्थंकरत्व के दिव्यवचनयोग से तीर्थंकर महावीर का काशी, काश्मीर, कुरु, मगध, कोसल, कामरूप, कच्छ, कुरुजांगल, किष्किन्धा, मल्लदेश, पांचाल, केरल, भद्र, चेदि, दशार्ण, बंग, अंग, आन्ध्र, उशीनर, मलय, विदर्भ, गौड़ आदि देशों में[28] उनके द्वारा व्यापक धर्मप्रभावना हुई। महावीर के संघ में 11 गणधर, 700 केवली, 500 मन:पर्यय ज्ञानी, 1300 अवधिज्ञानी, 900 विक्रिया ऋद्धिधारी, 400 अनुत्तरवादी, 36000 साध्वी-श्रमणायें, एक लाख श्रावक एवं तीन लाख श्राविकायें थीं। इनके साथ तीर्थंकर महावीर ने **29 वर्ष, 5 माह** एवं

Ganeṣh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

20 दिनों तक सम्पूर्ण वृहत्तर भारतवर्ष में व्यापक धर्मप्रभावना की।

अन्त में पावानगर के अनेक सरोवरों के मध्य पद्मसरोवर की उन्नत भूमि पर स्थित 'महामणि' शिलातल पर ठहर गये। वहाँ उन्होंने छह दिनों तक मौनरूप में रहकर अन्तिम गुणस्थान 'अयोग केवलीजिन' प्राप्त किया और पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण कालप्रमाण समय तक उसमें रहकर समस्त अघातिया कर्मों को नष्ट कर विदेहमुक्त हो सिद्धपद प्राप्त किया। इस प्रकार 527 ई०पू० को कार्तिक मास की अमावस्या 15 अक्तूबर, मंगलवार के दिन स्वाति नक्षत्र के समय प्रभु ने मोक्ष/परिनिर्वाण प्राप्त किया और वे संसार के आवागमन के चक्र से विमुक्त हो गये। प्रभु के निर्वाण का शुभप्रसंग देवों एवं मनुष्योंने अति उत्साहपूर्वक मनाया। मल्लगणराज्य के नायक हस्तिपाल राजा एवं अन्य 18 गणनायकों के मध्यमा पावा में प्रभु का निर्वाणमहोत्सव भक्तिपूर्वक मनाया। सभी ने दीप प्रज्वलित करके यह महोत्सव मनाया था, अत: यह दिन 'दीपावली' के रूप में प्रचलित हो गया।

जिस समय प्रभु महावीर को परिनिर्वाण की प्राप्ति हुई, जैनकाल गणना के अनुसार उस समय वर्तमान 'हुण्डावसर्पिणी' नामक चतुर्थ काल में तीन वर्ष एवं साढ़े आठ माह की अवधि शेष रह गयी थी। इसी दिन से 'वीरनिर्वाण संवत्' का प्रवर्तन हुआ।

यह है अन्तिम शासननायक तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर संक्षिप्त जीवनवृत्त का तथ्यपरक प्रस्तुतीकरण। प्रभु महावीर के जीवन-दर्शन से प्रभावित होकर इस देश की दिशा ही बदल गयीं। आज हम जिस भारतवर्ष में रह रहे हैं, इसके निर्माण में तीर्थंकर महावीर का एवं उनके संदेशों का अन्यतम योगदान है। इसकी स्वीकारोक्ति करते हुए प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता श्री टी०एन० रामचन्द्रन् लिखते हैं—"महावीर ने एक ऐसी साधु संस्था का निर्माण किया, जिसकी भित्ति पूर्ण अहिंसा पर निर्धारित थी। उनका 'अहिंसा परमोधर्म:' का सिद्धान्त सारे संसार में 2500 वर्षों में अग्नि की तरह व्याप्त हो गया। अन्त में इसने आधुनिक भारत के पिता महात्मा गाँधी को अपनी ओर आकर्षित किया। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि अहिंसा के सिद्धान्त पर ही महात्मा गाँधी ने नवीन भारत का निर्माण किया।''

आज के भारत गणराज्य के संविधान के मुखपृष्ठ पर तीर्थंकर महावीर का चित्र अंकित है, और उसके नीचे लिखा है कि 'भगवान् महावीर के अहिंसा सिद्धान्त के आधार पर ही इस देश को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है।' आज हम शासननायक महावीर के मंगलमय जीवन एवं उनके उपदेशों से प्रेरणा लें, उन्हें अपने जीवन में अपनायें; तो व्यक्ति का, समाज का, राष्ट्र का एवं विश्वभर का कल्याण एवं अभ्युदय सुनिश्चित है।

सन्दर्भानुक्रमणिका

1. समतायुक्त मनवाला 'श्रमण' है और श्रमण का भाव 'श्रामण्य' है। —भग०आ०, पृ० 174
2. "श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदा: ।।" —*श्रीमद्भागवत*
3. छान्दोग्ययोपनिषद्, 5/3

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

4. "अस्मिन् वै भारतेवर्षे, जन्म वै श्रावके कुले। तपसा युक्तमात्मानं, केशोत्पाटनपूर्वकम्।
तीर्थंकराश्चतुर्विंशत्तथा तैस्तु पुरस्कृतम्। छायाकृतं फणीन्द्रेण ध्यानमात्रप्रदेशिकम्।।"
—वैदिक पद्मपुराण, 5/14/389-90

5. "अष्टषष्टिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत्। श्रीआदिनाथदेवस्य स्मरणेनापि तद् भवेत्।।"

6. "माता यस्य प्रभाते करिपति वृषभौ सिंहपौतं च लक्ष्मीम्।
मालायुग्मं शशांकः रविशशी युगले पूर्णकुम्भौ तडागम् ।।
पायोधिं सिंहपीठं सुरगणनिभृतं व्योमयानं मनोज्ञम्।
चाद्राक्षीन्नागवासं मणि-गण-शिखिनौ तं जिनं नौमि भक्त्या।।"

7. "सिद्धार्थ-नृपति-तनयो भारतवास्ये विदेह-कुण्डपुरे।
देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान्संप्रदर्श्य विभुः।।" —निर्वाणभक्ति, 4

8. "अच्छित्ता णवमासे अट्ठयदिवसे चइत्त सियपक्खे।" —जयधवला, भाग 1, पृ० 78

9. (क) दृष्टे ग्रहैरथ निजोत्वगतैः समग्रैर्लग्ने यथा पतितकालमसूत राज्ञी।
चैत्रे जिनं सिततृतीय-यजया निशान्ते सोमान्हि चन्द्रमसि चोत्तरफाल्गुनिस्थे।।
—असगकविकृत 'वर्द्धमानचरित', 17/58।

(ख) चैत्रसितपक्षे फाल्गुनि शशांकयोगे दिने त्रयोदश्याम्।
जज्ञे स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने।। —निर्वाणभक्ति, 5

10. (क) "भूपतिः मौलि-माणिक्यः सिद्धार्थो नाम भूपतिः।
कुण्डग्रामपुरस्वामी तस्य पुत्रो जिनोऽवतु।।" —काव्यशिक्षा, 31

(ख) "अथ देशोऽस्ति विस्तारी जम्बूद्वीपस्य भारते।
'विदेह' इति विख्यातः स्वर्गखण्डसमः श्रियः।।
तत्राखण्डलनेत्राली पद्मिनीखण्डमण्डनम्।
सुखांभः कुण्डमाभाति नाम्ना कुण्डपुरं पुरम्।।"—आ० जिनसेन, हरि.पु., 1/211-5

11. "धृत्वा शेखर-पट्टहारपदकं ग्रैवेयकालंवकम्। केयूरांगदमध्यबंधुर-कटीसूत्रं च मुद्रान्वितम्।
चंचत्कुंडलकर्णपूर... पाणिद्वये कंकणम्। मंजीरं कटकं पदे जिनपतेः श्री गंधमुद्रांकितम्।।"

12. "सिंहोऽर्हतां ध्वजाः" — इति हेमचन्द्रः। "सिंहो लांछनान्यर्हतां" —प्रतिष्ठा, 11/3

13. "तद्गर्भतः प्रतिदिनं स्वकुलस्य लक्ष्मीं। दृष्ट्वा मुदा विधुकलामिव वर्धमानान्।
सार्धं सुरैर्भगवतो दशमेह्नि तस्य। श्री 'वर्द्धमान' इति नाम चकार राजा ।।"
—वर्द्धमानचरित्र, 17/19

14. 'स्वायुराद्यष्टवर्षेभ्यः सर्वेषां परतो भवेत्।
उदिताष्टकषायाणां तीर्थेषां देशसंयमः।।" —आ० गुणभद्र, उत्तरपुराण, 6/35

15. "तत्त्वार्थनिर्णयात् प्राप्य सन्मतित्वं सुबोधवाक्।
पूज्यो देवागमाद् भूत्वात्राकलंकाबभूविथ।।" —उत्तरपुराण, 73/2

16. (क) "वटवृक्षमथैकदा महान्तं सह डिंभैरधिरुह्य वर्धमानम्।
रममाणमुदीक्ष्य संगमाख्यो विबुधस्त्रासुयितं समाससाद्।।"
—वर्द्धमानचरित्र, 7/95

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(ख) "संगमकनेवदेवं तां गळकेलुत्तुमिर्दु भयराहित्यम् ।"

—कवि आचण्ण, कन्नड़ वर्धमान पुराण, 14/67

17. अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवनजयी कामसुभटः ।
कुमारावस्थायामपि निजबलाद्येन विजितः ।। —महावीराष्टकस्तोत्र, 6

18. (क) "वासुपूज्यो महावीरो मल्लिः पार्श्वो यदुत्तमः ।
'कुमार' निर्गता गेहात् पृथिवीपतयोऽपरे ।।" —पद्मपुराण, 20/67

(ख) "णेमी मल्ली वीरो कुमारकालम्मि वासुपुज्जो य ।
पासो वि य गहिदतवो सेस जिणा रज्जचरिमम्मि ।।"—तिलोयपण्णत्ति, 4, 60/72

(ग) "वीरं अरिट्ठनेमि पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च ।
.....................................कुमारवासम्मि पव्वइया ।।"आवश्यक निर्युक्ति, पत्र 136

19. "दीक्षोन्मुखस्तीर्थकरो जनेभ्यः । किमिच्छिकं दानमहो ! ददौ यः ।।" —प्रतिक्रमणसूत्र, 10/1

20. "चन्द्रप्रभाख्य-शिविकाधिरुढो दृढव्रतः ।
ऊढां परिवृढैर्नृणां ततो विद्याधराधिपैः ।।" —उत्तरपुराण, 74/299

21. "अवद्येन पापेन सह वर्तते – इति सावद्यं संसारकारणम् ।"

22. द्र०, उत्तरपुराण, 75/60

23. "उज्जयिन्यामथान्येद्युस्तं श्मशानेऽतिमुक्तके ।
वर्धमानं महासत्त्वं प्रतिमायोगधारिणम् ।।" —उत्तरपुराण, 74/33

24. "ऋजुकूलायास्तीरे शालद्रुमसंश्रिते शिलापट्टे ।
अपराह्णे षष्ठेनास्थितस्य खलु जृंभिकाग्रामे ।।" —निर्वाणभक्ति, 11

25. "गमइय छदुमत्थत्तं बारसवासाणि पंचमासे य ।
पण्णरसाणि दिणाणि य तिरयणसुद्धो महावीरो ।।" —जयधवला, भाग 1, पृ० 81

26. "वैशाखसितदशम्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते चंद्रे ।
क्षपकश्रेण्यारूढस्योत्पन्नं केवलज्ञानम् ।।" —निर्वाणभक्ति, 12

27. विशेष द्रष्टव्य, प्रतिष्ठापाठ, 9/6

28. द्र०, निर्वाणभक्ति, 25

**

'न धर्मो धार्मिकैर्विना'

'सगुणो निर्गुणो वाऽपि श्रावको मन्यते सदा ।
नाऽवज्ञा क्रियते तस्य तन्मूला धर्मवर्तिना ।।'

—आचार्य इन्द्रनन्दि, नीतिसार, 71

अर्थः—श्रावक सगुण हो या निर्गुण दोनों प्रकारों (की सद्भाव) को सदा मानता है। क्योंकि धर्म-वर्तना धर्मात्मा या अनुयायियों के बिना परम्परा नहीं चलती है। अतः उसका अवज्ञा नहीं किया जाता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीर्थंकर महावीर और महात्मा बुद्ध

वास्तव में तीर्थंकर महावीर और महात्मा बुद्ध समदेश, समकाल एवं समसंस्कृति के दो क्षत्रिय राजकुमार हुए, जिन्होंने आत्मधर्म और लोकधर्म का 2500 वर्ष पूर्व प्रसार किया।

इन दोनों महान् आत्माओं के जीवन, सिद्धान्त, धर्म आदि का अध्ययन करने में निम्नलिखित तुलनात्मक तथ्यतालिका बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

क्र.	विषय	आत्मधर्म-प्रकाशक महावीर	लोकधर्म-प्रचारक बुद्ध
1.	नाम	वर्द्धमान	बुद्ध
2.	पिता	सिद्धार्थ	शुद्धोधन
3.	माता	त्रिशला	महामाया
4.	गोत्र	कश्यप	कश्यप
5.	ग्राम	कुण्डग्राम (वैशाली)	कपिलवस्तु (लुम्बिनी)
6.	वंश	ज्ञातृ	शाक्य
7.	जाति	क्षत्रिय	क्षत्रिय
8.	जन्म	ई०पू० 598	ई०पू० 582
9.	धर्म	अर्हन्त	आर्हत*
10.	ज्ञानप्राप्ति-स्थान	ऋजुकूलातट	गया
11.	निर्वाण	ई०पू० 527	ई०पू० 502
12.	निर्वाणस्थान	पावापुरी	कुशीनगर
13.	आयुष्य	72 वर्ष	80 वर्ष
14.	व्रत	महाव्रत	पंचशील
15.	सिद्धान्त	स्याद्वाद	क्षणिकवाद

**

*महात्मा बुद्ध ने कहा था—'भिक्षुओ! मैंने एक प्राचीन राह देखी है, एक ऐसा प्राचीन मार्ग जो कि प्राचीन काल के अरिहन्तों द्वारा आचरण किया गयाथा। मैं उसी पर चला और चलते हुए मुझे कई तत्त्वों का रहस्य मिला। भिक्षुओं, प्राचीनकाल में जो भी अर्हन्त तथा बुद्ध हुए थे उनके भी ऐसे ही दो मुख्य अनुयायी थे, जैसे मेरे अनुयायी सारिपुत्र, मोग्गलायन थे।''

—*संयु 164*

"जैन साधना जहाँ एक ओर बौद्ध साधना का उद्गम है, वहाँ दूसरी ओर वह शैवमार्ग का भी आदिस्त्रोत है।''

—*'संस्कृत के चार अध्याय', रामधारीसिंह 'दिनकर', पृ० 438*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भगवदो महावीरस्स जीवण-दंसणं

—डॉ० उदयचन्द्र जैन

खिस्तादो पंचसद-पुव्व कालम्हि भगवदो महावीरस्स जुगचेदा-पुरिस-रूवेण जणा जाणंति, तेण मण्णेंति। जो समओ संसारम्हि हिंसाजण्ण-वादावरणेणं परिपुण्णो आसि, तस्सिं कालम्हि तक्कालीण-सामाजिगजणाणं पसुत्त-चेदणं जगेदुं णय-चिंतणेणं समाजस्स सेट्ठ-दिसा दंसिदा। माणविज्ज-गुणा दंसिदा। उच्चचरित्त-णिम्माण-हेदुं सम्मसिक्खा, सम्मदिक्खा, सम्ममग्गो दंसिदो य। संकुचिद-जादिवादस्स तधा रट्ठवादस्स दुप्परिणामेहिं माणव-समाज-संरक्खणत्थं भादुत्तणं विस्सबंधुत्तणं मित्तत्तणं च सिक्खेज्ज। कत्तव्व-बोहणत्थं पबुद्धो कदो। संपदाय-णिरवेक्ख-सव्वमण्ण-सिद्धंतं च बोहिदो।

संपुण्ण-विस्सं चाग-अहिंसा-सच्च-संजमस्स मग्ग-णिद्देसगो कुमरो राअकुमरो भगवद-महावीरो जण-जीवणस्स सद्धा पत्तो अत्थि। ते भगवं हि णत्थि, अविदु मग्गदिट्ठो चरित्त-मग्ग-उग्घोसिसगो जण-जणप्पिअ-महापुरिसो वि।

महावीरस्स जम्म-भूमि—

संपुण्ण-जिणागमम्हि जिणमदम्हि एदिज्जम्हि फुडो अत्थि महावीरस्स जम्म-ठाणं कुंडपुरो/कुंडउरोत्ति। तस्स य जिणसाहिच्चेसु विविह-णामाणि अत्थि। जधा य—

1.	कुंडग्गाम	[कव्वसिक्खा]
2.	कुंडग्गाम	[आवस्सय णिज्जुत्ती]
3.	कुंडग्गाम	[कप्पसुत्त]
4.	कुंडपुरू	[वीरजिणिंदचरिउ]
5.	कुंडपुर	[णिव्वाणभत्ती - पुज्जपादो]
6.	कुंडपुर	[हरिवंसपुराण, 215]
7.	कुंडपुर	[उत्तरपुराण, 74/252]
8.	कुंडगाम	[तिसट्ठिसलागापुरिसचरिडहेमचंद]
9.	कुंडलीपुर	[वड्ढमाणपुराण-चामुण्डराय]
10.	कुंडपुर	[आचण्णकिदबड्ढमाणपुराण]
11.	कुंडपुरु	[वड्ढमाणचरिउ]
12.	कुंडला	[आयरिय-सयलकित्ती]
13.	वेसाली-णामकुंडे	

सोरसेणी-अद्धमागही-भासाए विरचिद-साहिच्चेसु कुंडपुरो, कुंडग्गामो य णामो अत्थि। सिद्धंत-पुराण-चरित्तादि-गंथेसुं च एस गामो।

जम्म-कालो:—

पुराण-साहिच्चादि गंथेसु उल्लिहिदो-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्धत्थ-णिवदितणय भरहवस्से विदेहकुंडे।
दिव्वा पियकारिणिं सुसिविणा संपदिस्स-विहू।।

चेत्त-सिदपक्ख-फग्गुणि-ससंग-जोगे-दिणे तिदसम्हि। उच्चठाणम्हि सोम्मग्गिहे सुहलग्गे महावीरस्स जम्मो जादो चदुद्दसीए पुव्वण्हम्हि हत्थिसिदे ससंगे चेत्तजोण्हाए दिवसम्हि।

कुंडपुरो/कुंडग्गामो वित्थारो:-

कुंडउरो/कुंडपुरो/कुंडगामो/कुंडग्गामो/खत्तियकुंडपुरो सण्णिवेसो णाणाविध-चेदिय-पवित्त-ठाणं। समणाणं समणीणं साहु-अज्जिगाणं च सुरम्मारामो। तत्थट्ठिद-णिवासि-जणा सत्तविसण-मुत्ता तित्थ-धम्म-पालगा वि। अधवा तस्स पदेस्स विदेहो वि भासदे।

पुरा कालम्हि सो पदेसो विदेह-जणपद-णामाहिक्खादो तधा सो तीरमुत्ती वि अत्थि। तस्स जणवदस्स वेसाली-मिधिला वि अंगा अहेसि। पुरातणेव कालम्हि विहाररज्जो गंगादो उत्तरभाग-विदेह-णामेण पसिद्धो तधा दाहिणभागो मगध-णामादो विक्खादो। वेसाली-बहिर-कुंडग्गामो अत्थि। जो णगर-रूवे पसिद्धो। जो खत्तिय-कुंडग्गाम-णामेण वि विक्खादो।

विसालागणरज्ज-वेसाली:-

जिण-बुद्ध-वेदिग-साहिच्चेसुं वेसाली-णयरस्स वण्णणं अत्थि। सो गणरज्जो सामिद्धो, वेहवपुण्णो धण-धण्ण-संपण्णो खत्तियाणं गणो वि य। वम्मीगी-रामायणम्हि वि वेसाली-णयरस्स उल्लेहो अत्थि।

जदा राम-लक्खणा विस्सामित्तेण/विस्सामित्तमुणिणा सह मिधिलाए रायस्स जणगस्स अत्थ तेणं आयोजिद-धणुजग्गम्हि आगच्छिदा, तदा ते गंगाकूले संपत्ता। गुणिधरो ते गंगावदरणं अक्खादिदो। गंगं उत्तिण्णेदूण उत्तरद्धतडम्हि संपत्ता ते। तत्थेव रम्मा दिव्वा सग्गुवमा य विसालाणयरी जा अत्थि सा णयरी एव वेसाली।

महावीर-बुद्धसमयम्हि वेसालीणयरस्स महणिज्जत्तणं भरहखेत्तम्हि विक्खादं। जा वेसाली दाहिण-पुव्वम्हि वित्थरा आसी, उत्तरपुव्वम्हि सा कुंडपुर-पेरंतं च पच्छिमम्हि सा वणिगग्गामम्हि। तिछट्ठि-सलागपुरिसचरिदम्हि तं वेसालि-णयरीं सग्गसमगरीजसी विसाला। वइताली सिरि-विसाला-णयरी-सग्गगरीजसी। आखंडलव्व अखंडसासणं। तस्स पुढवीपदी चेटीकिदारिभूवालो तत्थ चेडगो आसी।

विमलपुराणम्हि वहसाली-णयरिं सिंधु-अडवी-सीमा-पेरंतीं मदा। उत्तरपुराणम्हि पण्णत्तं-
सिंधु-अडविसण्णिगडे वेसाली-णयरी अत्थि। तस्स चेडग-महाग्गिवदी अदिविक्खादो विणीदो परमारहदो य। भगवदम्हि वेसालीणयरिं विसालो वंसकद-णिम्मिदो। रामायणम्हि [9/2/33] [47/11-12] वुत्तो-इक्खागु-णरवाधपुत्तं-विसालो अत्थि, सो परमधम्मिगो आसी। सो अलंवुसादो जादो। तेणं विसालापुरिं विणिम्मिदा।

वेसाली-णाम-करणं

सा णयरी विसाला/वित्थरा आसि। सा तिसु भागेसु विभत्ता। (I)वइसाली (II) कुंडगामो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(III) वाणिज्जगामो य। तिण्णि एव पुधु पुधु णयराणि आसि। तेहिं समुदाएहिं सा सीमा अदिविसाला आसि। तस्स गणो सासगो चेडगो आसि। सो एव आखंडलेन अखंडसासणं कुणेदि।

जिणेसरी-णयरी वि सा वेसाली। जेसिं पासादेसुं णंदावत्तेसुं सिंहचिण्णहजुद-धजा-अरहा/उक्किट्ठा/उण्णदा अत्थि।

वेसाली-वेहवं:—

विणय-विरग-महावग्गम्हि वेसालीणयरिं अदिसमिद्धिसाली विसाला पण्णत्ता। सा णयरी दो-दो मील-परिधीए पेरंतं तिण्णि-तिण्णि परिधीहि/परकारेहि जुत्ता। सा सत्तसहस्स-सद-सद-पासादेहिं कूडागारेहिं आरामेहिं पोक्खरणीहिं च परिसमण्णिदा।

तस्स अट्ठ आणंद-परिसा वि। जधा—(1) खत्तियपरिसा, (2) समण-परिसा, (3) बंभण-परिसा (विण्णपरिसा) (4) गिहवदि-परिसा, (5) चदुमहरज्जिग-परिसा, (6) तायसतिंसपरिसा, (7) मार-परिसा, (8) वंह-परिसा य।

सा विसाला वेसाली मंगलकारणी दिव्वसा रम्मा रमणिज्जा पुण्ण-धण-धण्ण-समिद्धा, वणप्फदी-वण-संडा परिवुत्ता, जलासण्णा, सुह-संतिजुदा वि अत्थि। तस्स लिच्छली-परिसा दिव्वा अत्थि। तत्थेक वेसालीए णाहकुल-खत्तियाणं च णिवास-ठाणं अत्थि।

महावीरस्स माद-पिदू:—

वेसालिगणरज्ज-खत्तिय-कुंडगामस्स अधिवदी राया सिद्धत्थो। जो सव्वत्थो राया पुत्तो राणी सिरीमदीए। रण्णो सव्वत्थो एस पुत्तो सिद्धत्थो सव्व-जणाणं पियंकरो आसी। तस्स उच्चेहि कुलाहिसंभूदा सहज-णेह-जण्ण-वाहिणी पियकारिणी महिसो आसी। सा पियकारिणी तिसला, जा णारोजण-चूडामणी वि। आसाढमासस्स सुक्कपक्ख-छट्ठी-तिहीए पियकारिणी गब्भं धारेदि। चित्ताणक्खत्त-चेत्तमासम्हि सुक्कपक्खतयोदसीए सुहदिणम्हि जगद-तिलग-भूदो कंतिजुदो पुत्तं जम्मेदि। वड्ढमाणादो गुणादो कारणादो तस्स पुत्तस्स णामो वड्ढमाणो कदो।

जम्मुच्छवो:—

अणुवम-तेजस्सी-सव्व-गुण-संपण्ण-बालगस्स जम्मेण सुराहिवदि सुरिंदो तत्थ आगच्छदि णिय-दिव्व-दिव्वंगणाए सह दिव्व-सुर-णिगरेहिं च। तं पुत्तं सुरिंदेहिं मंदरसिहरस्स णेदूण पयणिहिखीरेहि कलसेहिं अहिसित्तो।

अत्थ वेसालीगणरज्जे कुंडपुरम्हि चदु-ति-पध-रज्ज-मग्गे गाम-णयर-खेड-कव्वड-मडव्व-मंडल-पट्टण-दोणमुह-घोंस-आसम-सहा-संवाह-सण्णिवेसे महूच्छवो कदो। अहिसेगुच्छवं कदं, पच्छा तं बालं एरावद-हत्थिम्हि आरोविदूण रायमग्गादो एव कुंडपुरम्हि इंदो आणीदो।

वड्ढमाण-वड्ढमाणस्स लीला

सो कुमरो वीअचंदव्व वड्ढमाणो णिय-सहाणं कुमारवड्ढमाणं, कुमारचलधर,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुमारकामधरं तधा कुमारपक्खधरं णंदेदि। तेहिं सह आणंदेण कीडंति, बाल-सुलह-लीलं कुणेंति। तं वड्ढमाणं वड्ढमाणं पासंता मादु-पिदु अदिहरिसेंति, रज्जपरिजणा वि। सो संख-चक्क-कमल-जव-धणु-धजादि-इगसहस्स-अट्ठ-लक्खणेहि जुदो सव्वेसिं जणाणं आणंदेंति।

कमेण सो वड्ढमाणो अट्ठ-वस्सस्स जादो। वड्ढमाणस्स असाहरणं णाणं महिमं सुणिदूण संजय-विजया चारणरिद्धिधारीमुणी णिय-तच्च-विसयं संकं समाहाणत्थं ते समीवे आगच्छिदा। किण्णू ते परमुवएस-परमिट्ठ-वयणं मुणिदूण दंसणमेत्तेव तेसिं संकाणं समाहेज्जा। किंचिं चुक्केज्जणं कुणेंति ते रिद्धिपुरिसा। विणया ते तस्स पदक्खिणं कदं तधा तं सम्मदी संबोहेज्जा।

देवणिगरेहिं तं वड्ढमाणं सहामज्झम्हि एव पसंसा कदा। तं णाणं तच्चणाणं च पुण-पुण पसंसेज्ज। जणा जणवदवासिणा णर-णारी वि लहुबालं पस्सिदूण आणंदेंति, मुणेंति ते सव्वे एस को वि विलक्खण-पडिभासंपण्ण-महापुरिसो महाणायगो कुंडपुरस्स अहिरामो वेसालीगणरज्जस्स णयणाहिणंदो तत्तण्हू अत्थि। संगमहिणामो देवो तं परिक्खणत्थं कुंडगामस्स णंदणवण-आराममम्हि समागदो, जत्थ वड्ढमाणो कुमारेहि सह उववणरुक्खेसु कीडं कुणेंति। जत्थ कुमारो रुक्खे आरोहेदूण कीडं करोदि, तस्सिं रुक्खम्हि एव आगच्छिदूण सो देवकुमारो सप्प-रूवं धारिदूण रुक्खं परिवेढएदि। कुमारमित्ताणि तं सप्पं अवलोगिदूण उज्जाणं बहि आगच्छंति इमे भासंति य "सप्पो ! सप्पो ! कालो णागो विगराल विसहरो य। कुमार-वड्ढमाणो अणुगच्छेज्ज बहि, अणुगच्छेज्ज बहि!"

कुमारो परिहसेदि, सप्पं पासदि, फणं फंसेदि मुहं संफासेदि जिब्भं च अवि। सो णिस्संक-कुमारो अचलमेव चिट्ठदि। तदेव सो संगमदेवो णिय-सप्प-सरूवं अवसारहेज्जदि। तं पसंसेदि अच्चेदि विय।

वीरो हवेदि कुंडपुरस्स कुमरो। मदुम्मत्त-गजराजं वसंगदेणं। एगस्सिं दिवसम्हि कुंडपुरम्हि मदुम्मत्तहत्थी जण-जणं धणं-धण्णं णर-णारीणं मद्दमाणो गच्छदि, तं के वि ण णिव्वारेदुं समत्थ हुंति। जणा पाणाणं रक्खेदुं जत्थ तत्थेव पलाएंति लुगंति भयासुंतो। इणं पस्सिदूणं च जाणिदूण सो णियसहाहिं कीडंतो वड्ढमाणो। जदा सो चिंतेदि, तदेव सो विगराल-गजो तत्थेव समागच्छदि। कुमारा पलाएंति। सो साहसी बालो ण, अवि दु साहसपुव्वगं तं गजं वसं करेदि वज्जमुट्ठिगापहारेणं। तदा जणवासिजणाणं पुणो पुणो 'वीरो' 'वीरो' त्ति भासिदा।

सो कुमारो तीस-वच्छरा जादो। तस्स देहस्स पमाणमवि सत्तहत्थप्पमाणं जादं। सो कामवसीभूदो ण गदो, अवि दु कामं जयिदुं सदद-जण्ण-सीलो जादो।

भगवदो महावीरस्स वेरग्ग-भावोः—

णाहउत्त-वड्ढमाणो बालत्तणादो एव गंभीरो धीरो कम्मजयी य आसी। सो णियप्पम्हि परमप्पभावं धारेदूण सव्व-णायग-सहाव-विसुद्ध-अप्पं झाएदि। लोगंदिग-देवेण संबोहिदो सो वेरग्गभावं संपत्तेदि। सो चंदप्पहजुद-पालगिं विराजमाणो णादखंडवणम्हि संपत्तो। तत्थेव मगसीस-किण्हपक्ख-दसमी-दिवसम्हि महूच्छवसमए चंदउत्तर-फग्गुणी तधा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हत्थ-णक्खद-मज्झे चारित्तं गिण्हेदूण सो कम्मरयमलं करेदि छहुववास-सहिद-तवच्चरणं गहिदं।तदेव सो कच-लुंचं कुणेदि तधा परम-इट्ठ-संजमम्हि संव्दिो।

केलणाणं उप्पत्ती–

वइसाह-मासस्स् सुक्कपक्ख-दसमि-तिहिं अवरण्हम्हि जदा चंदो हत्थे तधा उत्तराफग्गुणि-णक्खत्त-मज्झे ठिदो तदेव तं केवलणाणं पत्तेदि। घणघादि-कम्ममल-विमुत्तो जादो।

परिणिव्वाण-संपत्ती

सो सुक्कजझाणम्हि हिदो कत्तिग-मासस्स किण्हपक्ख-चदुद्दसी-दिण-रत्ति-अंतिम-भागम्हि सादि-णक्खतम्हि परिणिव्वाणं संपत्तं।

आहुणिग-संदब्भम्हि तस्स चिंदणं

मूलादो महावीरस्स चिंदणं अहिंसा-सच्च-अपरिग्गह-अणेगंद-दंसणे समाहिदो। तस्स अहिंसा, अपरिग्गहो अणेगंदो य सुमेरुसम-पदिट्ठिदो।

"अहिंसा परमो धम्मो"–अहिंसा विस्स-संति-मूलाधारा अत्थि, जस्स अमिदत्तणेहिं सव्वेसिंह पाणीणं पाणा संरक्खणं, जीवणं आणंदं, चरणं च रंजणं अत्थि। जे जणा जीविदुं इच्छेंति, ते सव्वेसिं पाणीणं रक्खेंति। ते चिंतेंति:–

"सव्वे पाणा पिआउया सुहसाता दुक्खपडिकूला अप्पियवधा पियजीविणो जीविउं कामा। सव्वेसिं जीवियं पियं।" *[आचारांग 3/78]*

जगदम्हि अंधत्तं बहिरत्तं मूगत्तंकाणत्तं कुंटत्तं खुज्जत्तं वडभत्तं सामत्तं सबलत्तं हवदि पमादादु। पमादेणं अणेगरूवाओ जोणीओ संधेदि, विरूवरूवे फासे पडिसंवेदयदि। आरत्तं विरत्तं पत्तेति दमो णियमो ण दस्सेदि। किं करणं, किं ण अकरणं; कत्तव्वं-अकत्तव्वं च ण जाणेदि।

समत्तदंसी अप्प अप्पम्हि रदो जदि अत्थि, सो एव 'सव्वेसिं भूदाणं सत्ताण पाणीणं जीवाणं च अप्पवदेव मण्णंदे। एसा भावणा एव विसालभावणा पवित्तभावणा विस्ससंतिभावणा य।'

अहिंसाधम्मो परमो धम्मो, उक्किट्ठधम्मो संजम-तव-संजुदो धम्मो। गिहत्थाणं धम्मो अणुव्वदो, समणाणं च महव्वदो।

अणेगंदधम्मो–अस्सिं जगदम्हि अणंताणंद-पदत्था अत्थि, तेसुं अणंतगुणा अत्थि। अस्सि एगस्स पहाणदो अवरस्स गोणदो य। अस्सि एगादो अणंतधम्माणं समावेसो अत्थि।

अपरिग्गहो–परिग्गह-मुच्छा, आरंभीहिंसा वि अत्थि। अपरिग्गहो समभावदिट्ठी अत्थि।

अस्स भगवदो महावीरस्स अहिंसा-अणेगंदो-अपरिग्गहो च जणवादी-चेदणाए कारणं अत्थि। महावीरस्स जीवण-दंसणे विस्स-बंधुत्त-भावणा वसुधेव कुडुंवगं च दिट्ठी अत्थि।

**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राकृत वैयाकरण 'शाकल्य'

—मुनिश्री कनकोज्ज्वलनंदि जी

[मुनिश्री कनकोज्ज्वलनंदि जी विगत चार वर्षों से प्रायश: आचार्यश्री विद्यानन्द जी के सान्निध्य में रहकर निरन्तर ज्ञानाराधना में संलग्न हैं। उन्होंने अधिकारी विद्वानों से संस्कृत एवं प्राकृतभाषा तथा उसके व्याकरण का विधिवत् अध्ययन किया है। उनकी मातृभाषा कन्नड़ होते हुए भी हिन्दी, संस्कृत एवं प्राकृत में अजस्र लेखन एवं संभाषण में सक्षम हैं। उनकी सूक्ष्म अध्ययनशैली के परिणामस्वरूप नि:सृत यह शोधबिन्दु विद्वानों के लिए स्पृहणीय होगा—इस आशय एवं विश्वास के साथ यहाँ प्रस्तुत है। *—सम्पादक*]

मार्कण्डेय कवीन्द्र विरचित 'प्राकृत सर्वस्व' प्राकृत व्याकरण का सुविख्यात ग्रंथ है। उसमें पाँचवें पाद के 96वें सूत्र में तथा नवम पाद के 109वें सूत्र में प्राचीन प्राकृत वैयाकरण के रूप में 'शाकल्य' मुनि के मत का उल्लेख किया गया है। वैयाकरणों की यह परम्परा रही है कि वे अपना व्याकरण लिखते समय अन्य पूर्ववर्ती वैयाकरणों के विशिष्ट स्थापनाओं का प्रकरण आने पर सादर उल्लेख करते थे। क्वचित् यह उल्लेख/स्मरण रूपों की वैकल्पिक सिद्धि के लिए भी होता था, जो कि उस वैयाकरण को मूलत: इष्ट नहीं होते थे, किन्तु लोक में प्रचलित होने से उनकी पूर्णतया अवहेलना भी अशक्य होती थी। साथ ही पूर्ववर्ती प्रसिद्ध वैयाकरण के द्वारा उनकी स्वीकृति/प्रवृत्ति होने से वह वैयाकरण उस पूववर्ती वैयाकरण के नाम से ही वह वैकल्पिकरूप अपने व्याकरणग्रन्थ में सूत्रित कर देता था। इस पद्धति से जहाँ परम्परा-प्राप्त वैकल्पिकरूपों का संरक्षण होता, वहीं प्राचीन वैयाकरणों के विषय में जानकारी भी उस ग्रन्थ के पाठक को प्राप्त हो जाती थी। प्रसिद्ध संस्कृत वैयाकरण आचार्य पाणिनी (ई०पू० 400) ने अपने ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' में शाकटायन, शाकल्य, भारद्वाज एवं स्फोटायन आदि अनेकों प्राचीन वैयाकरणों का पूर्वोक्त प्रकार से सादर उल्लेख किया है।

ईसापूर्व 400 में हुए आचार्य पाणिनी के ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' में आचार्य शाकल्य के बारे में चार बार उल्लेख आया है–

(i) सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे (1/1/16),
(ii) इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य (6/1/127),
(iii) लोप: शाकल्यस्य (8/3/19) तथा
(iv) सर्वत्र शाकल्यस्य (8/4/51)।

आचार्य पाणिनी जैसे धुरन्धर वैयाकरण के द्वारा चार बार उल्लेख किये जाने से आचार्य शाकल्य मुनि का संस्कृत व्याकरण सम्प्रति न मिलने पर भी समस्त विद्वत्सन्तति उन्हें प्राचीन, प्रतिष्ठित संस्कृत वैयाकरण के रूप में निर्विवादरूप में स्वीकार करती आयी है। परन्तु आचार्य शाकल्य मुनि प्राकृत वैयाकरण भी थे – यह बात कम से कम मैंने तो आज तक किसी विद्वान् के श्रीमुख से नहीं सुनी थी। इस तथ्य की जानकारी सर्वप्रथम धर्मानुरागी डॉ० सुदीप जैन के साथ मार्कण्डेयकृत 'प्राकृत सर्वस्व' का स्वाध्याय करते समय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपरिउल्लिखित दो सूत्रों को देखने पर ही ज्ञात हुई। 'प्राकृतविद्या' के सुधी पाठकों की ज्ञाननिधि की समृद्ध्यर्थ वे दोनों सूत्र यहाँ प्रस्तुत हैं–

(i) *शाकल्यस्यात इन्मते*। *(5/96)*

शाकल्यस्य मते अनयोरत एत्व प्राप्तौ इत्स्यात्।

अर्थ:–पूर्ववर्त्ती सूत्र 'तुज्झतुम्हौ सुपि स्याताम्' में 'तुज्झ' एवं 'तुम्ह' सर्वनाम शब्दों के बाद सप्तमी बहुवचन का विभक्तिप्रत्यय 'सुप्' आने पर इनके अन्त्य 'अ'कार को 'एत्व' का विधान कर – 'तुज्झेसुं, तुम्हेसुं' – रूपों की सिद्धि की गयी थी। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा उस अन्त्य अकार को शाकल्य मुनि के मत में 'इत्व' का विधान किया गया है, तथा 'तुज्झिसुं, तुम्हिसुं' रूपों की सिद्धि की गयी है।

(ii) होश्च *शाकल्यमते स्यात्*। *(9/103)*

अर्थ:–पूर्ववर्त्ती सूत्र 'भुवो भो' में 'भू' धातु को 'भो' आदेश कर 'भोदि' रूप की निष्पत्ति की गयी थी। चूंकि शौरसेनी प्राकृत में 'होदि' रूप मिलता है, अत: इस सूत्र में शाकल्य मुनि के मत को उद्धृत कते हुए उस 'भो' के स्थान पर 'हो' आदेश होने का विधान करके 'होदि' रूप सिद्ध किया गया है।

उक्त दोनों सूत्रों के अवलोकन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शाकल्य मुनि संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत के भी अतिप्रामाणिक वैयाकरण थे और इन्होंने शौरसेनी प्राकृत का व्याकरण भी लिखा था। आचार्य पाणिनीकृत प्राकृत व्याकरणशास्त्र का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु वह भी आज तक प्रकाश में नहीं आ पाया है। अनुसन्धित्सुओं के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य है कि वे इस दिशा में गहन शोध करें, हो सकता है कि किसी ग्रंथ-भंडार में इनकी कोई प्रतिलिपि प्राप्त हो जाये।

उक्त आचार्य शाकल्य संभवत: जैन विद्वान् थे, क्योंकि वैयाकरणों में इन्द्र, चन्द्र, शाकटायन, पूज्यपाद देवनंदि एवं कुमार आदि अनेकों सुविख्यात जैन वैयाकरण पाणिनी से भी पहिले एवं बाद में हो चुके हैं तथा इनके क्रमश: ऐन्द्र व्याकरण, चान्द्र व्याकरण, शाकटायन व्याकरण, जैनेन्द्र व्याकरण एवं कौमार (कातन्त्र) व्याकरण आदि सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। वैसे इस बात का पोषक कोई अन्य प्रमाण नहीं है, सिवाय इसके कि जैन साधकों एवं विद्वानों में व्याकरणशास्त्र के प्रति गहन रूचि अति प्राचीनकाल से थी – ऐसे प्रामाणिक तथ्य मिलते हैं।'कसायपाहुड' में आचार्य गुणधर लिखते हैं–''एदं सव्वं वागरणसुत्तं'' तो उसी में आचार्य नागहस्ति ने ''वागरणकरण भंगिय'' कहकर व्याकरणशास्त्र के प्रति अपनी रुचि एवं प्रवृत्ति सिद्ध की है। मूलाचार (गा० 285) में 'ज्ञानविशुद्ध' होने के विधि की चर्चा की गयी है, उसकी टीका करते हुए आ० वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती लिखते हैं–''.......*प्रयत्नेन च व्याकरणद्वारेणोपदेशेन वा जल्पन्, पठन्, प्रतिपादयन् वा ज्ञानविशुद्धो भवति।..... अक्षरादि-व्यत्ययं न करोति यथा व्याकरणं यथोपदेशं पठतीति।*'' अर्थात् 'प्रत्यत्नपूर्वक व्याकरण द्वारा एवं उपदेश द्वारा बोलते, पढ़ते, प्रतिपादन करते हुए व्यक्ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'ज्ञानविशुद्ध' होता है। ..... वह अक्षर आदि का व्यत्यय नहीं करता है और जैसा व्याकरण है, जैसा गुरू का उपदेश है; उसी के अनुसार पढ़ता है।' —इस सब विवरण से जैनाचार्यों की व्याकरण में आस्था एवं ज्ञानगरिमा दोनों का परिचय मिलता है। अनेकों जैनश्रमणों द्वारा संस्कृत-प्राकृत एवं कन्नड़, तमिल आदि अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में पर्याप्त व्याकरण-ग्रन्थ लिखे जाना भी इस तथ्य को पुष्ट करता है।

हाँ ! धवलाकार वीरसेन स्वामी ने चौरासी दार्शनिकों की चर्चा करते हुए उनमें एक 'शाकल्य' नाम भी गिनाया है। (धवला 1/1/2, पृ० 109) यदि ये पूर्वोक्त वैयाकरण शाकल्य ही हैं, तो इनका दार्शनिकत्व भी इस उल्लेख से सिद्ध हो जाता है। परन्तु यह सब व्यापक एवं गहन शोध की अपेक्षा रखनेवाले बिन्दु हैं। आशा है इस अनुसन्धानप्रधान युग के अनुसन्धाता इस दिशा में कुछ आयास कर नवीन तथ्यों को उजागर करेंगे।

**

दुरहियविज्जो पच्चंतनिवासो वावदूक कीकाको।
खलिकरण भोइपुरत्तो, लोगुत्तर पेढियागीते।।

एकः पुरुषो व्याकरणसूत्राणि किञ्चित् पठितानि कृत्वा प्रत्यन्तं ग्रामं गत्वा ब्रूते-अहं वैयाकरणः। तत्र स ग्रामेयकैरामीरैःपरिगृहीतः। वृत्तिः पुष्टा कृता। ततः सुखेन तत्र निवसति। अन्यदा तत्र वावदूकश्छात्रैः परिवृतः पुस्तकभारेण समागतः। ततस्तैः प्रत्यन्तग्रामवासिभिस्तस्य शिष्याः पृष्टाः—'क एष समागतः।' तैरवादि—'वैयाकरणः।' ततस्ते प्रत्यन्तग्रामवासिनो ब्रुवते—'अस्माकमप्यस्ति वैयाकरणः, तेन सह शब्दगोष्ठी भवतु।' तैः प्रतिश्रुतम्। जात एकत्र मेलापकः। ततो दुरधीतविद्येनोक्तम्—'काग इति कथं भण्यते?' वैयाकरणेनोक्तम्—'काक' इति। (एवमुक्ते स मौनमध्यतिष्ठत्।) दुरधीतविद्येनोक्तम्—अन्योऽपि लोकः काकमेव भणति, को विशेषो व्याकरणस्य अहं भणामि 'क्रीकाकः'। ततो ग्रामेयकैर्हसितम् उत्कृष्टिश्च कृता 'अस्माकं पण्डितेनैष पराजितः' इति। पश्चात् स वैयाकरणः प्रद्वेषमापन्नो नगरं गत्वा यस्य भोजिकस्य स ग्रामस्तेन कर्षयित्वा तस्य पुरतः खलीकृत्यग्रामान्निष्काशितः। एष दृष्टान्तः।

एवं लोकोत्तरेऽपि कोऽपि कस्याप्याचार्यस्य शिष्यः किञ्चित् पीठिकामात्रं शिक्षयित्वा एकाकी प्रत्यन्तनगरं गत्वा तद्गतानन्यानगीतार्थान् द्रावयति, अकरणीयान्यपि च करोति, अप्रायश्चित्तेऽपि च प्रायश्चित्तं ददाति, अन्यं पूजा-सत्कार-गौरवहानिभयतो न च पृच्छति। पश्चादन्ये गीतार्थास्तत्रागतास्तैर्द्रावितः प्रायश्चित्तं च तस्य दत्तं दिक् च तस्यापहृता।। गाथाक्षरयोजना त्वियम्—दुरधीतविद्यः कोऽपि प्रत्यन्तनिवासः। तत्रैको 'वावदूकः' महाविद्वान्वैयाकरणः समागतः। तस्य तेन विवादे 'क्रीकारः कृतः' उपहासपूर्वकमुत्कृष्टिः कृता। ततः स वैयाकरणो वावदूको नगरं गत्वा भोजिकपुरतस्तस्य खलीकरणमकार्षीत्। एवं लोकोत्तरेऽपि 'पीठिकागीते' पीठिकामात्रेण गीतार्थकर्त्तव्यं या करोति सैषा दुर्विदग्धा पर्षत्।। —*(बृहत्कल्पसूत्र, अनुयोगाधिकारः, गाथा 372 एवं भाष्य)*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऋषभ-स्तोत्र

—आचार्य पद्मनन्दि

जय उसह णाहिणंदण तिहुवणणिलयेक्कदीव तित्थयर।
जय सयलजीववच्छल णिम्मलगुणरयणणिहि-णाह।। 1।।

अर्थः—जो नाभिराजा के पुत्र हैं, तीन लोकरूपी घर को प्रकाशित करनेवाले एकमात्र दीपक हैं, वे ऋषभ तीर्थंकर जयवन्त हों। जो समस्त जीवों से वात्सल्य रखते हैं और निर्मल गुणरूपी रत्नों के भण्डार हैं, वे ऋषभनाथ जयवन्त हों।

सयलसुरासुर-मणिमउडकिरण-कब्बुरिय-पायपीठ तुमं।
धण्णा पेच्छंति थुणंति जवंति झायंति जिणणाह।। 2।।

अर्थः—नमस्कार करते हुए सुरासुरों के मणिमय मुकुटों की किरणों से जिनका पादपीठ (आसन) विचित्र वर्ण का हो रहा है, ऐसे हे जिननाथ ! जो मनुष्य आपको देखते हैं, आपकी स्तुति करते हैं, आपको जपते हैं और आपका ध्यान करते हैं; वे धन्य हैं।

चम्मच्छिण्णा वि दिट्ठे तइ तइलोए ण भाइ महहइरिसो।
णाणच्छिणा उणो जिण ण यामिणो किं परिप्फुरदि।। 3।।

अर्थः—हे जिन ! चर्ममय नेत्र से भी आपका दर्शन होने पर जो महान् हर्ष उत्पन्न होता है, वह तीनों लोकों में नहीं समाता है; तब फिर ज्ञानरूपी नेत्र से आपका दर्शन होने पर कितना आनन्द प्राप्त होगा?—यह हम नहीं जानते।

तं जिणणाणमणंत विसईकय सयलवत्थुवित्थारं।
जो थुणदि सो पसासइ समुद्दकहमवद्ददसालूरो।। 4।।

अर्थः—हे जिनेन्द्र ! जो जीव समस्त वस्तुओं के विस्तार को विषय करनेवाले आपके अनन्तज्ञान की स्तुति करता है, वह अपने को उस कूपमण्डूक के समान प्रकट करता है; जो कुएं में रहता हुआ भी समुद्र के वृत्तान्त को बतलाता है।

अम्हारिसाण तुह गोत्तकित्तणेण वि जिणेस संचरदि।
आएसं मग्गंती पुरओ हियइच्छिया लच्छी।। 5।।

अर्थः—हे जिनेन्द्र ! आपके नाम के स्मरणमात्र से भी हम जैसे मनुष्यों के सामने मनचाही लक्ष्मी आज्ञा माँगती हुई उपस्थित होती है।

जासि सिरी तइ संते तुव अवइण्णम्मि तीए णट्ठाए।
संके जणियाणिट्ठा दिट्ठा सव्वट्ठसिद्धी वि।। 6।।

अर्थः—हे जिनेन्द्र ! जिस समय आप सर्वार्थसिद्धि विमान में थे, उस समय उस विमान की जो शोभा थी, वह आपके पृथ्वीतल पर उतरने पर आपके वियोगजनित दुःख से नष्ट हो गई—ऐसा मैं (ग्रंथकार) अनुमान करता हूँ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णाहिघरे वसुहारावडणं जं सुइरमिहं तुहोयरणा।
आसि णहाहि जिणेसर, तेण धरा वसुमई जाया।। 7।।

अर्थ:—हे जिनेश्वर ! आपके अवतार के समय नाभिराजा के घर पर जो चिरकाल (15 माह) तक धन की धारा का पतन (रत्नवर्षा) हुआ था, उसी से यह पृथ्वी 'वसुमती'—इस सार्थक नामवाली हुई है।

सच्चिय सुर-णवियपया मरुएवी पहुट्ठिओ सि जं गब्भे।
पुरओ पट्टो बज्झइ मज्झे से पुत्तवंतीणं।। 8।।

अर्थ:—हे भगवन् ! जिस मरुदेवी के गर्भ में आप स्थित थे, उसी के चरणों में देवों ने नमस्कार किया था और उन देवों ने समस्त पुत्रवती स्त्रियों के मध्य में केवल मरुदेवी को ही पट्ट बाँधा था। अर्थात् समस्त पुत्रवती स्त्रियों के बीच में तीर्थंकर जैसे पुत्ररत्न को जन्म देनेवाली एक मरुदेवी ही 'पुत्रवती' प्रसिद्ध की गई थी।

(पद्मनन्दि पंचविंशतिः से उद्धृत)

**

णमोकार जैन मन्त्र अहिंसक है

"णमोकार मन्त्र का प्रयोग मैंने वनस्पति पर किया। इस प्रयोग में वनस्पति पर सबसे अच्छा परिणाम दिखाई दिया। लेकिन एक विशेष बात इस मन्त्र के बारे में ध्यान में आयी, वह यह कि इस मन्त्र के उच्चारण समय, मन्त्र को अगर मन में जपा जायें (मानस जाप) तो इसमें अधिक सामर्थ्य आता है, अधिक शक्ति उत्पन्न होती है। कदाचित् इस मन्त्र के उच्चारण से जो जीवहिंसा होती है, वही हिंसा परा, पश्यन्ती, मध्यमा इन अंतःकरण के हृदयपर नहीं होती। लेकिन, आजतक के प्रयोगों में तो जैन-बान्धवों को भी, जैसे की हमारे यहाँ के कथनानुसार, 'पश्यन्ती' तरह के 'णमोकार' मन्त्र के सामर्थ्य का अनुभव आया। इस मन्त्र का आशय, अर्थ के दृष्टि से पूर्णतः कृतज्ञसमता का है, वही भावना ही इस प्रभाव का कारण हो सकती है।"

—मनशक्ति (श्रद्धाविज्ञान) पृ० 11 सितं 88
लोणावळा, (महाराष्ट्र)

लोकाचार जैनों को भी व्यवहार से मान्य है

'सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्।।'

—आचार्य सोमदेव, यशस्तिलक, 6/446

अर्थ:—सभी जैन धर्मानुयायियों को वह लौकिक व्यवहार मान्य है, जिससे उनके सम्यक्त्व में हानि न आती हो और न उनके व्रतों में दूषण लगता हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राकृत भाषा निबद्ध महापुराण : कुछ विचार

—डॉ० बी०के० खडवडी

[डॉ० बी०के० खडवडी कर्नाटक कॉलेज, धारवाड़ (कर्नाटक विश्वविद्यालय) के स्नातकोत्तर प्राकृत-विभाग के अध्यक्ष-पद से कुछ वर्ष पूर्व अवकाश ग्रहण कर वर्तमान में शौरसेनी-प्राकृत एवं कन्नड़ के जैन-साहित्य की शोध-खोज में संलग्न हैं। उन्होंने कन्नड के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ —"वड्डाराधने" नामक ग्रन्थ पर सर्वप्रथम उच्चस्तरीय शोधकार्य किया और उसके वैशिष्ट्य की ओर विद्वज्जगत को आकर्षित कर स्वयं भी ख्यातिप्राप्त हुए।

डॉ० खडवडी का ऐसा विश्वास है कि शौरसेनी-प्राकृत में केवल सिद्धान्त, आचार, अध्यात्म, ज्योतिष-गणित तथा दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन ही नहीं हुआ, बल्कि प्राचीनकाल में कूची भट्टारक एवं श्रीनन्दिमुनीश्वर कृत महापुराण (त्रिषष्ठिशलाका महापुरुषचरित) जैसे प्रथमानुयोग-साहित्य की भी रचनाएँ लिखी गईं जो दुर्भाग्य से परवर्ती कालों में काल-कवलित हो गई। डॉ० खडवड़ी के विश्वास के अनुसार आचार्य जिनसेन एवं गुणभद्र को उक्त महापुराणों से अपने संस्कृत-महापुराण के लेखन के लिए प्रेरणाएँ मिली। —प्रधान सम्पादक]

पुराण का अर्थ है, 'प्राचीन ऐतिहासिक, अर्ध-ऐतिहासिक, धार्मिकादि महापुरुष और उनके जीवन की विशेष घटनावलियों का कथन अथवा पुरातन इतिहास द्वारा किया हुआ धर्मनिरूपण।' सामान्यतः हर एक धर्म के अपने-अपने पुराण होते हैं, और उनके कई अंश अपने धर्मग्रन्थों में समादिष्ट किए जाते हैं। जैन पुराण-साहित्य प्रायशः जैन कथा-साहित्य की प्राचीन और विशेष शाखा है। इसकी गणना दिगंबरों के अधिकृत आगम के प्रथमानुयोग में की जाती है। अपना प्राचीन स्वरूप, बड़ा गात्र, कई विभिन्न लक्षण और उद्देश्यादि पाकर जैनपुराण स्वयं ही एक स्वतंत्र प्रकार या वर्ग के रूप में प्रसिद्ध हो गए। ये पुराण दो प्रकार के हैं :—

(i) महापुराण : त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण, अथवा त्रिषष्ठि-शलाकापुरुषचरित — 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती आदि 63 महापुरुषों के चरित, तथा

(ii) लघुपुराण : किसी एक महापुरुष या शलाकापुरुष का चरित

जैनपुराणों पर संस्कृत हिन्दू-पुराणों जैसे अट्ठारह या अन्य संख्या का बन्धन नहीं है। भाषा का नियम भी नहीं है और (व्यास जैसे) एक व्यक्ति-कृतित्व का आरोपण भी नहीं है। काल और प्रदेश की आवश्यकतानुसार, जैनपुराण प्राचीन, मध्ययुगीन और आधुनिक भाषाओं में—अनुक्रम से प्राकृत-संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती, कन्नड़, तमिल आदि भाषाओं में और विविध प्रदेशों के विविध विद्वानों द्वारा रचे गए हैं। तत्परिणाम इनकी समूची संख्या पर्याप्त बड़ी होकर वे ई० सन् 400 से 1700 ई० तक की दीर्घ कालावधि में प्रसारित होते रहे हैं। ये सभी पुराण जैन दार्शनिक, नैतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वों के अनुकूल होने जैसे परिकल्पित विश्व-विवरणशास्त्र (Cosmography) क्षेत्र जंबूद्वीप, भरतक्षेत्र, मेरुपर्वत, 16 कल्प (स्वर्ग), 7 नरक, विद्याधर-श्रेणी, विदेह-क्षेत्र आदि और जैन पुरातन-इतिहास-साहित्य (Mythology) की विशेष पार्श्वभूमि में रचित होने के कारण, उनमें अल्पाधिक मात्रा में विश्वकोश का स्वरूप आ गया है।[1] और वे भव्यजनों के कल्याण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के लिए मुख्यत: धार्मिक महापुरुषों के चरित्रों के उदाहरण, दृष्टान्तादि प्रस्तुत करने का उद्देश्य रखते हैं।

विविध समयों में, विविध प्रदेशों में और विविध भाषाओं में रचित जैन महापुराणों और लघुपुराणों का सर्वतोमुखी अखंड चित्र या दृश्य (Panoramic View) पाने के लिए, हमारे पास कोई साधन नहीं है। इसलिए मुझे लगता है कि हमें "जैनपुराणों की प्रधान वर्णनात्मक सूची" (Descriptive Master Catalogue of Jaina Puranas) की नितांत आवश्यकता है। इस बात का समर्थन करने के लिए मैं यहाँ कन्नड़ में प्राप्त जैनपुराणों की विमर्शात्मक समीक्षा प्रस्तुत करना चाहता हूँ :—

कन्नड़ में अनेक जैनपुराण सन् 941 से 1700 ई० तक की कालावधि में रचे गए हैं। इनमें एक महापुराण है और लगभग 32 लघु पुराण। ये सभी दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थ हैं और वे 'पुराण' कहलाते हैं। मात्र नागचन्द्र ने अपने लघुपुराण को 'रामचन्द्र-चरित-पुराण' कहा है। महापुराण गंगनरेशों के (ई० सन् 961-984) महामन्त्री और महादण्डनायक, अजितसेनाचार्य के कट्टर अनुयायी और सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य के शिष्य चामुंडराय ने 'त्रिषष्टि-लक्षण-महापुराण' नाम से रचना की है। यह अभिजात कन्नड़ गद्य में है और कन्नड़ के आदि गद्य-ग्रन्थ 'वड्डाराधने' (सन् 925) के पश्चात् सन् 978 में रचित है। कन्नड़ में रचे गए लगभग 37 लघुपुराणों में प्राच्यतम 'आदिपुराण' नामक लघुपुराण है, जो महाकवि पंप की श्रेष्ठ कृति (सन् 941) है। इस 'आदिपुराण' के बाद महाकवि पोन्न द्वारा 'शान्तिपुराण' (सन् 950) और महाकवि रन्न द्वारा 'अजितपुराण' (सन् 993) रचे गए हैं। पंप, पोन्न और रन्न कन्नड़-साहित्य के रत्नत्रय माने जाते हैं। इनके सिवा इतर अनेक प्रसिद्ध कवियों द्वारा रचित लगभग 29 लघुपुराण कन्नड़ की महत्वपूर्ण और धार्मिक और साहित्यिक कृतियाँ मानी जाती हैं। मुख्यत: ये सभी जैनपुराण और इतर विषयों पर रचे गए अनेक जैनग्रन्थ अपनी संख्यागत बहुलता और अपने विशिष्ट गुणों के कारण ई० सन् 900 से 1200 तक का यह काल कन्नड़-साहित्य का "जैन युग" और "सुवर्ण युग" माना जाता है।[2]

चामुंडराय ने अपने महापुराण के प्रास्ताविक भाग में[3] (दि० आदिपुराण पद्य 1-25) प्राचीन महापुराण-रचनाकार-जैनाचार्यों की परंपरा का वर्णन करते हुए कूचिभट्टारक, श्रीनन्दिडमुनीश्वर, कवि परमेश्वर, जिनसेनाचार्य और गुणभद्राचार्य का आदरपूर्वक क्रमानुसार नाम निर्देश किया है (पद्य 24-25) और कहा है कि "सर्वप्रथम कूचिभट्टारक और श्रीनंदि मुनीश्वर ने महापुराणों की रचना की है। तत्पश्चात् कवि परमेश्वर ने महापुराण की रचना की।" कवि परमेश्वर की कृति के आधार पर जिनसेनाचार्य और गुणभद्राचार्य ने महापुराण की (आदिपुराण और उत्तरपुराण) रचना की। कवि परमेश्वर का महापुराण, जिनसे चामुंडराय ने कई संस्कृत पद्य उद्धृत किए हैं, वह वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। प्रो० डॉ० आ०ने० उपाध्ये का कहना है कि "यह संस्कृत-कृति संस्कृत-चंपू हो सकती है।"[4]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अब रह गए प्राचीनतम कूचि भट्टारक और श्रीनंदि मुनीश्वर के महापुराण। सो इन प्राचीनतम महापुराणों के बारे में और इन प्राचीनतम कवियों के बारे में कोई जानकारी या उल्लेख कहीं भी नहीं मिलते। क्या ये प्राचीनतम महापुराण या इनमें से कनिष्ठ एक कृति प्राकृतभाषा-निबद्ध रही होगी? जैनसाहित्य में प्रायश: सभी प्राचीन कृतियाँ प्राकृतभाषा-निबद्ध हैं। मध्ययुगीन (868)[5] शीलांकाचार्य-रचित 'चउपन्नमहापुरिसचरियं' (54 महापुरुष चरित) में सभी 63 शलाका महापुराणों का समावेश न रहने से वह महापुराण न होकर उसे कथा-कोश का स्थान दिया गया है। विमलसूरि का प्राचीनतम लघुपुराण–'पउमचरियं' प्राकृत में ही है। प्राकृत में रचित महापुराण अब तक उपलब्ध नहीं है। अत: कूचि भट्टारक और श्रीनंदि मुनीश्वर की प्राचीनतम महापुराण-कृतियाँ अथवा कनिष्ठ पक्ष में सबसे प्राचीन कूचि भट्टारक की कृति प्राकृतभाषा निबद्ध अवश्य रही होगी। चामुंडराय ने अपने महापुराण के वास्तविक भाग में महापुराणकारों की परंपरा देते समय, उनकी कृतियों में से किसी एक भी कृति की भाषा के बारे में कुछ नहीं कहा। किंतु वे अपने महापुराण के पाठ्य में इन प्राचीनतम महापुराणों की भाषा के बारे में हमारे द्वारा रखे हुए रचनात्मक संभाव्य विचार (Constructive Presumption) को बल देने वाले कई सूचकांश छोड़ गए हैं :–

चामुंडराय ने अपने महापुराण में कुल 11 प्राकृत-गाहाएँ उद्धृत की हैं। ये सभी शौरसेनी में हैं और लिपिकार के प्राकृतभाषा के अज्ञान के कारण अशुद्धरूप में आ गए हैं। उनमें से 8 गाहाओं के मूल (sources) डॉ० उपाध्ये और हमने बहुत प्रयास से शोध कर बताए हैं।[6] किंतु नीचे अकारादि में दी हुई 3 गाहाओं के मूल कहीं भी नहीं मिले। यथा—

(1) पडिगहमुच्चठाणं.. (पृ० 39)
(2) णाणादिरयणं.. (पृ० 297)
(3) दसुहेट्ठिमसु. .... (पृ० 28)

डॉ० उपाध्ये का ठीक कहना है कि "उद्धरण नं० 1 वसुनंदि-श्रावकाचार में मिलता है, किंतु वह वसुनंदी की गाहा नहीं होकर किसी अन्य प्राचीन ग्रन्थों से लिया हुआ उद्धरण मात्र है।"[7]

इन उद्धृत गाहाओं के व्यतिरिक्त, हेट्ठिम, संथार, जस, मिग, धम्म आदि अनेक प्राकृत शब्द इस महापुराण में आद्यंत बिखरे हुए हैं। अत: हम कह सकते हैं कि चामुंडराय ने अपने महापुराण में जैसे कवि परमेश्वर के महापुराण से कई संस्कृत पद्य उद्धृत किए हैं, वैसे ही कूचि भट्टारक और कवि परमेश्वर के प्राकृतभाषा निबद्ध महापुराणों से या कनिष्ठ पक्ष में कूचि भट्टारक की प्राचीनतम प्राकृत कृति से ये 3 गाथाएँ अवश्य उद्धृत की होंगी और चामुंडरॉय के महापुराण के पाठों में प्राप्त प्राकृत शब्द इस कृति के प्रभाव से आए हुए होंगे। यह सब शोधपूर्ण जानकारी हमें चामुंडरॉय के महापुराण के प्रास्ताविक भाग के कई पद्यों से मिली है। इसप्रकार की जानकारी कन्नड़ेतर विद्वान् या जिज्ञासुओं को नहीं प्राप्त हो सकती। इसलिए हमें एक जैनपुराणों की वर्णनात्मक प्रधान सूची की नितांत आवश्यकता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। प्रथम विविध भाषाओं में प्राप्त जैनपुराणों की वर्णनात्मक सूची तैयार हो जाय, तो प्रधानसूची अपने आप सुलभ रीति से प्रकाश में आ जाएगी। तत्परिणाम जैन पुराण-साहित्य क्षेत्र में इसप्रकार के संशोधन को बढ़ावा मिलेगा।

अब इस अध्ययन के निष्कर्षात्मक अंग निम्नलिखित संक्षिप्तरूप में रखे जा सकते हैं:—

प्राकृत में रचित एक या दो महापुराण (त्रिषष्ठि-लक्षण-महापुराण) थे। वे प्राचीनतम महापुराण होकर शौरसेनी में निबद्ध थे। इनके रचनाकार कूचि भट्टारक और या श्रीनंदि मुनीश्वर थे। दुर्भाग्यवश अब ये ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं, किन्हीं अज्ञात कारणों से वे कालकवलित हो गए हैं। यदि चामुंडरॉय ने अपने महापुराणों के प्रास्ताविक में पूर्ववर्त्ती महापुराणकारों की परंपरा देते हुए कूचिभट्टारक और श्रीनंदि मुनीश्वर का प्राचीनतम महापुराणकार करके उल्लेख नहीं करते, तो प्राकृत-निबद्ध महापुराण रचे जाने का या नहीं रचे जाने का प्रश्न विलंबित अवस्था में ही रह जाता था। इसप्रकार की जानकारी से पाठ लेकर, हम अब एक "जैनपुराणों की वर्णनात्मक प्रधान सूची (Descriptive Master Catalogue of Jaina Puranas) तैयार करें, तो जैनपुराण साहित्य क्षेत्र में इसप्रकार के संशोधन को बढ़ावा मिलेगा। कोई शोध संस्थान अपनी योजनाओं में इसप्रकार की सूची की भी योजना में शामिल कर सकता है।[8]

आधार ग्रन्थोल्लेख और टिप्पणियाँ

1. इस विषयक अधिकृत जानकारी के लिए देखिए— Significance of some Jaina Cosmographic Concepts.

(i) Dr. B.K. Khadabadi, Tulsi Prajna, Vo. VIII, 1985.

(ii) प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ० किर्फेल प्रशंसापूर्वक कहते हैं कि जैनाचार्यों ने अपने विशिष्ट विश्व-विवरण–शास्त्र-विवेचन हेतु अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। यह बात भारत के अन्य धर्मियों में देखने को नहीं मिलती। देखिए डॉ० किर्फेल का Die Kosmographic der Inder (Part III), Introduction, Bonn University, Leipzig, 1920.

2. देखिए, कर्नाटक-कविचरिते, भाग 1 (परिष्कृत आवृत्ति), कन्नड़ साहित्य परिषद्, बेंगलूर 1961।

3. त्रिषष्टि-लक्षण-महापुराण (चामुंडरायपुराण), संपा० बी०एस० कुलकर्णी, कन्नड़ संशोधन संस्थान, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़ 1975.

4. देखिए, Literary Predecessors of Camundaraya. Dr. A.N. Upadhay, Journal of Karnataka University (Hum.) Vol. IV 1960.

5. प्राकृत साहित्य का इतिहास, डॉ० जगदीश चन्द्र जैन, चौखंभा विद्याभवन, वाराणसी, 1961, पृ० 525।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

6. देखिए–(i) Literary predecessors of Camundaraya Dr. A.N. Upadhay, JKU. (Hum). Vol. IV 1960.

(ii) Quotations in Camundaraya Purana Dr. B.K. Khadabadi VRI. Buletine-3, Vaishali 1982.

7. यह गाहा कन्नड़ के आदि-गद्य—ग्रंथ 'बड्डाराधने' में भी उद्धृत की गई है। अतः इसका मूल कोई प्राचीन महत्वपूर्ण ग्रन्थ हो सकता है, और वह मूल (Source) ग्रन्थ कूचि भट्टारक का महापुराण ग्रंन्थ होगा।

8. वाराणसी के पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के तत्त्वावधान में 1981 में आयोजित "अखिल भारतीय प्राकृत और जैन विद्या परिषद" के "जैन पुराण और कथा साहित्य" के विभागीय अध्यक्ष पद से किए हुए मेरे भाषण में प्रस्तुत किए गए कई विचारों का परिष्कृत और विस्तृत रूप।

आराधना, कोलेकर स्ट्रीट
शंकेश्वर-591313
(कर्नाटक)

**

पुराण-संख्या

'पढमाणियोगो' पंच-सहस्स-पदेहि 5000 पुराणं वण्णेदि। उक्तं च—

बारसविहं पुराणं जगदिट्ठं जिणवरेहि सव्वेहिं।
तं सव्वं वण्णेदि हु जिणवंसे रायवंसे य।।1।।
पढमो अरहंताणं विदियो पुण चक्कवट्टि-वंसो दु।
विज्जहराणं तदियो चउत्थयो वासुदेवाणं।।2।।
चारण-वंसो तह पंचमो दु छट्ठो य पण्ण-समणाणं।
सत्तमओ कुरुवंसो अट्ठमओ तह य हरिवंसो।।3।।
णवमो य इक्खुयाणं दसमो वि य कासियाण बोद्धवो।
वाईणेक्कारसमो बारसमो णाह- वंसो दु।।4।।

दृष्टिवाद अंग का प्रथमानुयोग अर्थाधिकार पांच हजार पदों के द्वारा पुराणों का वर्णन करता है। कहा भी है–

जिनेन्द्रदेव ने जगत् में बारह प्रकार के पुराणों का उपदेश दिया है। वे समस्त पुराण जिनवंश और राजवंशों का वर्णन करते हैं। पहला अरिहंत अर्थात् तीर्थंकरों का, दूसरा चक्रवर्तियों का, तीसरा विद्याधरों का, चौथा नारायण- प्रतिनारायणों का, पांचवां चारणों का, छठवाँ प्रज्ञाश्रमणों का वंश है। तथा सातवां कुरुवंश, आठवां हरिवंश, नवमां इक्ष्वाकुवंश, दशवां काश्यपवंश, ग्यारहवां वांदियों का वंश और बारहवां नाथवंश है।। 1-4।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारतीय आर्यभाषायें एवं प्राकृतभाषा

—प्रो० (डॉ०) प्रेमसिंह

प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं तथा उनके साहित्य को ऐतिहासिक दृष्टि से तीन कालखण्डों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम काल 'वैदिककाल' है, इसकी भाषा को आचार्य पाणिनी ने 'छान्दस्' नाम दिया है।[1] द्वितीय काल को 'मध्य आर्यभाषा काल' कहा गयाहै तथा आधुनिक आर्यभाषाओं का युग लगभग सातवीं शताब्दी ई० से प्रारम्भ होता है। प्रस्तुत आलेख का विषय मध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषायें हैं।

मध्ययुगीन भारतीय भाषाओं तथा उनके साहित्य का इतिहास लगभग छठवीं शताब्दी ई०पू० से प्रारम्भ होता है। इसकी भाषा वैदिकभाषा से पर्याप्त भिन्न है, क्योंकि यह जनसाधारण के लिए उन्हीं की भाषा में निबद्ध साहित्य है। कतिपय लोगों ने इस साहित्य को 'नास्तिक साहित्य' की संज्ञा भी दी है, क्योंकि यह प्रमुखतः जैनों एवं बौद्धों की विचारधाओं का प्रस्तोता साहित्य है। तथा 'नास्तिकों वेदनिंदकः' की अवधारणा वाले लोगों ने इन्हें 'नास्तिक' माना है। साथ ही यह जनसाधारण के लिए उदारवृत्ति से सृजित कल्याणकारी साहित्य था, किसी वर्ग या जातिविशेष के लिए निर्धारित नहीं था। इसलिए भी कतिपय अनुदारवृत्तिजन इसे आदरभाव से नहीं स्वीकार कर सके।

इस साहित्य की भाषा के भी तीन स्तर विद्वानों ने माने हैं। —प्रथम स्तर पर बौद्ध तिपिटक साहित्य में संगृहीत बुद्धवचनों की भाषा है। यह भाषा संस्कृत से बहुत भिन्न है। इसमें संयुक्त व्यंजनों के स्थान पर द्वित्व व्यंजनों का प्रयोग हुआ है तथा शब्द के प्रारम्भ में आने वाले संयुक्त व्यंजन प्रायः समाप्त हो गये हैं। यथा—एकत्र › एयट्ठ, प्रेम › पेम, स्यात् › सात, त्याग › चाग इत्यादि। व्यंजनान्त प्रयोग भी इसमें नहीं मिलते हैं—यथा— शरत् › सर, अभवत् › अभव आदि।

इसी साहित्य की भाषा का एक अन्य स्तर प्राकृतभाषा के नाम से जाना जाता है, जिसमें बुद्धवचनों की भाषा की उपरिवर्णित विशेषतायें तो हैं ही; साथ ही कुछ और भी विशेषतायें हैं, जो कि निम्नानुसार हैं—

1. अघोष अल्पप्राण ध्वनियाँ दो स्वरों के मध्य में आने पर वे घोष अल्पप्राण व्यंजनों में बदल जाती हैं, यथा— भवति › हवदि।

2. इसी प्रकार घोष महाप्राण ध्वनियाँ भी प्रायः 'ह्' में बदल गयी हैं, यथा— वधू › बहू, आधार › आहार आदि।

इस प्राकृत को शौरसेनी प्राकृत कहा गया है। इसका यह उद्धरण द्रष्टव्य है—

"अण्णं च जेण जेव्व दिट्ठिमेत्तेण ईदिसो संतावो वट्टदि, पेक्खिदुं अहिलससि।"

इस वाक्य में संताप › संतावो, वर्तते › वट्टादि, प्रेक्षितुम् › पेक्खिदुं रूप हो गये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की भाषा भी शौरसेनी प्राकृत ही है। उनके 'अष्टपाहुड' के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं–यथा-एते › एदे, विजानाति › वियाणेदि, जिणवयण जिनवचन आदि।

तृतीय स्तर की प्राकृत में सघोष अल्पप्राण ध्वनियों तथा अघोष अल्पप्राण ध्वनियों का एकीकरण हो गया था तथा दो स्वरों के मध्यवर्ती सघोष अल्पप्राण ध्वनियों का लोप होने लगा था। क्वचित् उस सघोष अल्पप्राण ध्वनि का लोप होने की जगह 'य' श्रुति एवं 'व' श्रुति के प्रयोग भी मिलते हैं। इस 'य' श्रुति एवं 'व' श्रुति की तुलना पाणिनी के 'इकोयणचि' सूत्र से की जा सकती है। तथापि रूढ़िगतरूप से इस नयी 'य' श्रुति की स्थिति कुछ और ही है। इस स्तर की प्राकृत को 'अर्द्धमागधी' एवं 'महाराष्ट्री प्राकृत' नामों से पुकारा जाता है।

जैन साहित्य में शौरसेनी, अर्द्धमागधी एवं महाराष्ट्री तीनों प्राकृतों के रूप प्राप्त होते हैं। इससे कई तथ्य उभरकर सामने आते हैं–प्रथम यह कि भारत प्राचीनकाल से ही बहुभाषा-भाषी देश रहा है, और लोग अपने विचारों के सम्प्रेषण के लिए अलग-अलग क्षेत्रों एवं कालों में अलग-अलग भाषाओं का प्रयोग करते रहे हैं और यह परम्परा आज भी चल रही है। दूसरी बात यह है कि जैनमुनियों ने जनसाधारण की भाषा को प्राथमिकता दी है। इनके लिए भाषा नहीं, अपितु विचार ही प्रमुख थे। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द यद्यपि द्रविड़ जैनसंघ से सम्बन्धित थे, तथापि उन्होंने व्यापक दृष्टिकोण अपनाते हुए शौरसेनी प्राकृतभाषा में साहित्य सृजन किया।

यह परम्परा परवर्ती अर्वाचीन संतों में भी पायी जाती है। संत नामदेव यद्यपि मूलतः मराठी संत थे, तथापि उनके उपदेशों में ब्रजभाषा की ही प्रधानता रही है। देखें ›

"आमीले कुंभ भराईले उदक ठाकुर को इ स्नानु करऊ।
बाईस लाख जी (जीव) जल में होते, बीठल मैला काए करऊ।।"

इन पंक्तियों में 'आनीले' तथा 'भराईले' शब्द मराठी के हैं शेष ब्रजभाषा के हैं। सिखों के 'गुरुग्रन्थसाहिब' में भी जैनों एवं बौद्धों के ग्रंथों की भाषा के शब्द प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होते हैं। यह भारतीय परम्परा है, जो कि विचारशुद्धि एवं आत्मशुद्धि-प्रधान परम्परा है। यही वास्तविक भारतीय परम्परा है, जो जैनियों, बौद्धों, सिक्खों एवं संत कवियों के द्वारा पोषित एवं वृद्धिंगत है। यही हमें भविष्य में उन्नति की ओर ले जा सकती है, कोई अनुदारवादी परम्परा हमारे देश, समाज व व्यक्ति का भविष्य उज्ज्वल नहीं कर सकती है।

–अध्यक्ष, भाषा विज्ञान विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

सन्दर्भसूची

1. विशेष द्रष्टव्य– Writernity history of Indian Lictrature, Vol. I. तथा Wackernagel Altindigche Grandmalik, Vol. I तथा इस पुस्तक की Loure Ranan द्वारा लिखित भूमिका, प्रकाशन वर्ष 1957।

**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनदर्शन नास्तिक नहीं

—डॉ० मंगलदेव शास्त्री
पूर्वकुलपति, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

भारतीय दर्शन के विषय में एक परम्परागत मिथ्या भ्रम का उल्लेख करना भी हमें आवश्यक प्रतीत होता है। कुछ काल से लोग ऐसा समझने लगे हैं कि भारतीय दर्शन की आस्तिक और नास्तिक नाम से दो शाखायें हैं। तथाकथित 'वैदिक' दर्शनों को 'आस्तिक दर्शन' और जैन-बौद्ध जैसे दर्शनों को 'नास्तिक दर्शन' कहा जाता है। वस्तुत: यह वर्गीकरण निराधार ही नहीं, नितान्त मिथ्या भी है। आस्तिक और नास्तिक शब्द 'अस्ति नास्ति दिष्टं मति: (पा० 4/4/60) इस पाणिनि सूत्र के अनुसार बने हैं। मौलिक अर्थ उनका यही था कि परलोक (जिसको हम दूसरे शब्दों में इन्द्रियातीत तथ्य भी कह सकते हैं) की सत्ता को माननेवाला "आस्तिक" और न माननेवाला "नास्तिक" कहलाता है। स्पष्टत: इस अर्थ में जैन और बौद्ध जैसे दर्शनों को नास्तिक कहा ही नहीं जा सकता। इसके विपरीत हम तो यह समझते हैं कि शब्द प्रमाण की निरपेक्षता से वस्तुतत्त्व पर विचार करने के कारण दूसरे दर्शनों की अपेक्षा उनका अपना एक आदरणीय वैशिष्ट्य ही है।

"इसमें सन्देह नहीं कि न केवल भारतीय दर्शन के विकास का अनुगम करने के लिए, अपितु, भारतीय संस्कृति के स्वरुप के उत्तरोत्तर विकास को समझने के लिए भी जैनदर्शन का अत्यन्त महत्त्व है। भारतीय विचारधारा में अहिंसावाद के रूप में अथवा परमतसहिष्णुता के रूप में अथवा समन्वयात्मक भावना के रूप में जैनदर्शन और जैन विचारधारा की जो देन है, उसको समझे बिना वास्तव में भारतीय संस्कृति के विकास को नहीं समझा जा सकता।"

"सब धर्मों में निश्चय ही अध्यात्म का विशेष स्थान है, परन्तु जैनधर्म की प्रारम्भ से ही बड़ी भारी विशेषता यह रही है कि उसका नेतृत्व लौकिक स्वार्थसिद्धि से असम्पृक्त तथा विश्वकल्याण को चाहने वाले, "आन्तराणामरातीनां विजयव्रत-धारिणाम्।
भवबन्धविनाशार्थं मुनीनां धर्मचारिणाम्।। *(रश्मिमाला)*
—ऐसे मुनिजों के हाथ में रहा है। यह बात सब धर्मों में देखने में नहीं आती। यही कारण है कि अर्न्तदृष्टि और आत्मसमीक्षण का जितना अधिक विचार जैन धर्म के अध्यात्मग्रन्थों में मिलता है, उतनी मात्रा में कदाचित् अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता।" **

(*) "आस्तिक्यमात्मविश्वास:" —*(रश्मिमाला, 4)*
—आत्मतत्त्व में विश्वास करना ही आस्तिक्य है।

(*) "आस्तिक: श्रावक: श्राद्ध: स्याच्छ्रद्धलुरुपासक:।" —*(शारदीयाख्यनाममाला, 119)*
—(जैन श्रावक, श्रद्धावान्, श्रद्धालु और उपासक—ये सब 'आस्तिक' शब्द के पर्यायवाची हैं।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विज्ञजनों से विनम्र अनुरोध

—पं० जयकुमार उपाध्ये, एम०ए० प्राकृत

अभी वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित 'अनेकान्त' का अक्तूबर-दिसम्बर '95 का अंक हस्तगत हुआ। पहिले जिस 'अनेकान्त' को जैनों का 'प्रतिनिधि शोधपत्र' होने का गौरव प्राप्त था, तथा जिसके शोध आलेखों की सहायता लेकर न जाने कितने शोधार्थियों के शोध-प्रबन्ध पूरे हुए; आज उसमें प्राय: महत्त्वहीन सिद्ध हो चुके बिन्दुओं को लेकर समाज में उत्तेजना फैलानेवाले शब्दों की प्रचुरता के साथ पर्वाग्रहग्रस्त बातें पढ़ने को मिलती हैं, तो हृदय पीड़ा से भर उठता है।

इस अंक में 'आगमों के प्रति विसंगतियाँ' शीर्षक से विद्वान् पं० पद्मचन्द्र जी शास्त्री का लेख देखा। मुझे समझ नहीं आता कि जिस आगम के बारे में मंगलाचरण में हम पढ़ते हैं "चक्षुरुन्मीलितं येन....." अर्थात् जिसके पढ़ने/सुनने से ज्ञानरूपी चक्षु खुल गये; उसी आगम के बारे में लोग चक्षु-निमीलित करके कैसे प्रस्ताव पास कराने का आशय रखते हैं। आगम के बारे में निर्णय 'जिनमत' के अनुसार होने चाहिए, न कि 'जनमत' के अनुसार। विद्वान् लेखक ने पं० गजाधरलाल जी के द्वारा संपादित सन् 1914 ई० में प्रकाशित समयसार एवं श्री नेमीचंद महावीर प्रसाद पाण्ड्या, कलकत्ता द्वारा वी०नि० संवत् 2468 में प्रकाशित 'समयसार' की प्रतियों के पाठों को शुद्ध स्वीकार किया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विद्वान् लेखक अहिंसा मन्दिर, दरियागंज, नई दिल्ली-2 से प्रकाशित 'समयसार' की प्रति के पाठों को शुद्ध प्रमाणित करने की दीर्घावधि से पुरजोर कोशिश करते आ रहे हैं। यहाँ पर मैं अहिंसा मन्दिर द्वारा प्रकाशित 'समयसार' प्रति के पाठों तथा उक्त दोनों (पं० गजाधरलाल जी की प्रति एवं कलकत्ता प्रति) प्रतियों के कतिपय पाठों को अविकलरूप में विद्वानों के सम्मुख रखना चाहता हूँ। वे ही निर्णय करके बतावें कि इनमें से कौन-सा पाठ शुद्ध है? यदि दोनों ही पाठ शुद्ध हैं, तो यह भी स्वीकार्य होना चाहिए। हाँ! इतना अवश्य है कि "नामूलं लिख्यते किंचित्" अर्थात् बिना आधार के कोई बात यादृच्छिकरूप से नहीं कही जाये—इस शोध-तथ्य का ध्यान रखा जाये—यह मेरा विनम्र अनुरोध है। पाठ निम्नानुसार हैं—

पं० गजाधरलाल जी के द्वारा सम्पादित प्रति के पाठ—

सत्थं णाणं ण हवदि जह्मा सत्थं ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति।। 420।।
सद्दो णाणं ण हवदि जह्मा सद्दो ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति।। 421।।
रूवं णाणं ण हवदि जह्मा रूवं ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति।। 422।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वण्णो णाणं ण हवदि जह्मा वण्णो ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति ।। 423 ।।
गंधो णाणं ण हवदि जह्मा गंधो ण याणदे किंचि।
तह्मा णाणं अग्णं अण्णं गंधं जिणा विंति।। 424 ।।
ण रसो दु होदि णाणं जह्मा दु रसो अचेदणो णिच्चं।
तह्मा अण्णं णाणं रसं च अण्णं जिणा विंति।। 425 ।।
फासो णाणं ण हवदि जह्मा फाणे ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति ।। 426 ।।
कम्मं णाणं ण हवदि जह्मा कम्मं ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ।। 427 ।।
धम्मच्छिओ ण णाणं जह्मा धम्मो ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति ।। 428 ।।
ण हवदि णाणमधम्मच्छिओ जं ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विंति ।। 429 ।।
कालोवि णत्थि णाणं जह्मा कालो ण याणदे किंचि।
तह्मा ण होदि णाणं जह्मा कालो अचेदणो णिच्चं ।। 430 ।।
आयासंपि य णाणं ण हवदि जह्मा ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णायासं अण्णं णाणं जिणा विंति ।। 431 ।।
अज्भवसाणं णाणं ण हवदि जह्मा अचेदणं णिच्चं।
तह्मा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं।। 432 ।।

कलकत्ता वाली प्रति के पाठ

सत्थं णाणं ण हवदि जम्हा सत्थं ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ।।
सद्दो णाणं ण हवदि जम्हा सद्दो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति।।
रूवं णाणं ण हवदि जम्हा रूवं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति ।।
वण्णो णाणं ण हवदि जम्हा वण्णो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति।।
गंधो णाणं ण हवदि जम्हा गंधो ण याणदे किंचि।
तम्हा णाणं अण्णं अण्णं गंधं जिणा विंति ।।
ण रसो दु होदि णाणं जम्हा दु रसो अचेदणो णिच्चं।
तम्हा अण्णं णाणं रसं च अण्णं जिणा विंति।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फासो णाणं ण हवदि जम्हा फासो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति।।
कम्मं णाणं ण हवदि जम्हा कम्मं ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ।।
धम्मच्छिओ ण णाणं जम्हा धम्मो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति।।
ण हवदि णाणमधम्मच्छिओ जं ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विंति।।
कालोवि णत्थि णाणं जम्हा कालो ण याणदे किंचि।
तम्हा ण होदि णाणं जम्हा को अचेदणो णिच्चं ।।
आयासं पि य णाणं ण हवदि जम्हा ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णायासं अण्णं णाणं जिणा विंति ।।
अज्झवसाणं णाणं ण हवदि जम्हा अचेदणं णिच्चं।
तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ।।

'अहिंसा मंदिर' वाली प्रति के पाठ

सत्थं णाणं ण हवइ जम्हा सत्थं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति।।
सद्दो णाणं ण हवइ जम्हा सद्दो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति ।।
रूवं णाणं ण हवइ जम्हा रूवं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति।।
वण्णो णाणं ण हवइ जम्हा वण्णो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति।।
गंधो णाणं ण हवइ जम्हा गंधो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति।।
ण रसो दु हवदि णाणं जम्हा दु रसो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं रसं य अण्णं जिणा विंति।।
फासो ण हवइ णाणं जम्हा फासो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति।।
कम्मं णाणं ण हवइ जम्हा कम्मं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ।।
धम्मो णाणं ण हवइ जम्हा धम्मो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णाणमधम्मो ण हवइ जम्हा धम्मो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विंति ।।
कालो णाणं ण हवइ जम्हा कालो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा विंति ।।
आयासं पि ण णाणं जम्हायासं ण याणए किंचि।
तम्हा यासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा विंति।।

विज्ञजनों से मेरा विनम्र अनुरोध है कि प्रारंभ की दोनों प्रतियों में 'याणदे' तथा 'हवदि', 'होदि' पाठ हैं; जबकि अहिंसा मंदिरवाली प्रति में 'याणए' तथा 'हवइ' पाठ हैं। शौरसेनी प्राकृत में तो 'त' के स्थान पर 'द' श्रुति मिलती है ('तकारस्य दकारः स्याद्'—सिद्धहेमशब्दानुशासन, 160)। स्वयं पं० पद्मचन्द्र जी ने भी -अनेकान्त' के जनवरी-मार्च 1988 के अंक में प्रकाशित अपने लेख 'आगम के मूलरूपों में फेरबदल घातक है' के पृ० 18 में 'त' को 'द' होने का विधान बतलाया है, और वहाँ 'प्राकृतशब्दानुशासन' का वाक्य 'दस्तस्य शौरसेन्यामखावचोऽस्तोः' (3/2/1) भी प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है। प्रायः सभी बड़े विद्वानों ने निर्विवादरूप से स्वीकार किया है कि आ० कुन्दकुन्द के ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत में हैं। अतः इस आधार पर तो 'याणदे' एवं 'हवदि, 'होदि' रूप ही उचित प्रतीत होते हैं। तथा ये दोनों पाठ प्राचीन प्रतियों में प्रकाशित भी हैं, जिन्हें विद्वान् लेखक प्रामाणिक मानते हैं; तब मैं सविनय जानना चाहता हूँ कि फिर अहिंसा मन्दिरवाली प्रति में ये दोनों पाठ कैसे परिवर्तित हो गये तथा इन परिवर्तित पाठों को विद्वान् पं० पद्मचन्द्र जी सा० किस मूलप्रति के आधार से प्रामाणिक मानते हैं। तथा यदि कहा जाये कि ये पाठ अहिंसा मंदिरवाली प्रति में शुद्ध हैं और पं० गजाधरलाल जी ने बदलकर 'द' प्रयोग वाले पाठ रखे थे, तो इस बारे में भी आज कृपया आधारसहित मार्गदर्शन करें। मेरा वर्तमान की समस्त विद्वन्मंडली एवं आदरणीय पं० पदम्चन्द्र जी से इस विषय में मुझे मार्गदर्शन देने का सविनय अनुरोध है।

**

'केचित्किंञ्चित्परिज्ञाय, कुतश्चिद् गर्विताशयः।
जगन्मन्दं प्रपश्यन्तो नाश्रयन्ति मनीषिणः।।'

अर्थ—कुछ मनुष्य कहीं से थोड़ी-सी बात जानकर अपने आप बड़ा विद्वान् मान लेते हैं तथा अपने सामने विश्वभर के विद्वानों को मूर्ख समझते हैं; अतएव अहंकार से वे विद्वानों की संगति भी नहीं करना चाहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न्यायाचार्य पंडित महेन्द्रकुमार

—महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

[डॉ० महेन्द्र कुमार जी न्यायाचार्य का जैसा विराट व्यक्तित्व था, उसे चित्रित करने के लिए भी वैसी ही पाण्डित्यपूर्ण प्रौढ़ सक्षम लेखनी की आवश्यकता थी और यह सौभाग्य ही माना जायगा कि अपनी बहुमुखी मौलिक शोध-खोज के लिए विश्वप्रसिद्ध महापण्डित 'राहुल सांकृत्यायन जैसे मनस्वी साहित्यकार की सुघड़ लेखनी ने उस दायित्व का सार्थक निर्वाह किया। शोधार्थियों के लिए प्रस्तुत दिशाप्रेरक निबन्ध पठनीय, मननीय एवं संग्रहणीय है।—*प्र०स०*]

आचार्य महेन्द्रकुमार के नाम के साथ "स्वर्गीय'' लगाने में हृदय में असह्य वेदना होती है, ऐसी वेदना किसी आत्मीय के निधन पर भी नहीं हुई थी। हमारे लोग प्रतिभाओं की कितनी कदर करते हैं, यह इसी से मालूम होगा कि वाराणसी जैसे बड़े शहर में इस महापुरुष की जीवन-समाप्ति की सूचना किसी प्रमुख दैनिकपत्र ने नहीं दी। मसूरी में उनके स्वजन ने सूचना न दी होती, तो कितने ही समय तक मैं यही समझता रहता कि 'महेन्द्रजी "प्रमाणविनिश्चय'' के उद्धार में लगे हुए हैं।' बहुत पीछे एक साधारण साप्ताहिक ने छापा–"दिनांक 20 मई, सायंकाल 7 बजे लकवा की बीमारी में पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य का स्वर्गवास हो गया। 14 मई को करीब 12 बजे हिन्दू यूनिवर्सिटी में अपने ही घर पर उन्हें बायें अंग में लकवा लग गया था। दो दिन के बाद स्थिति कुछ सुधरने लगी थी, किन्तु पाँचवें दिन जब फिर से लकवे का जोर पड़ा तो सारा शरीर लकवाग्रस्त हो गया। इस स्थिति में डॉक्टर लोग संभाल नहीं सके और अन्त में 20 मई को सायंकाल वे इस नश्वर शरीर को छोड़कर चले गये।'' —*(जैनभारती 31-5-59)*

महेन्द्रजी का जन्म 13 मई 1911 को हुआ था, अर्थात् वह मुश्किल से 48 वर्ष के ही हो पाये थे। यही नहीं, अभी वह अपनी साधनाओं को दिनों-दिन बढ़ा रहे थे। एक ही वर्ष पहले उन्होंने पेचिंग (चीन) में मेरे पास लिखा था, कि "मैं तिब्बती भाषा पढ़ने और साथ ही धर्मकीर्ति के 'प्रमाणविनिश्चय' को फिर से तिब्बती अनुवाद के सहारे संस्कृत में करने में लगा हूँ।'' उस वक्त मुझे कितनी प्रसन्नता हुई थी। धर्मकीर्ति को यूरोप के मूर्धन्य विद्वान् 'भारत का कान्ट' कहते है। उन्होंने बुद्धिवाद और वस्तुवादी प्रमाणशास्त्र पर लेखनी उठाई और सात अमूल्य ग्रंथ लिखे। उनमें से सिर्फ एक छोटा-सा ग्रंथ 'न्यायबिन्दु' मूल संस्कृत में रह गया था। इन पंक्तियों के लेखक की तिब्बत-यात्राओं के फलस्वरूप 'प्रमाणवार्तिक' हेतुबिन्दु', 'वादन्याय', 'संबंधपरीक्षा'—चार ग्रंथ मूल संस्कृत में मिलकर प्रकाश में आये। 'सन्तामान्तरसिद्ध' छोटा ग्रंथ होने से किसी समय भी तिब्बती अनुवाद से संस्कृत में किया जा सकता था, पर 'प्रमाणविनिश्चय' 'प्रमाणवार्तिक' जैसा ही बड़ा ग्रंथ था, उसे ही महेन्द्र जी संस्कृत में कर रहे थे। पर चिरंजीवी पद्मकुमार के पत्र के अनुसार "पूज्य पिताजी ने 'प्रमाणविनिश्चय' का काम प्रारंभ कर दिया था, किन्तु वह पूरा न हो सका और बीच में ही हमें छोड़कर......''

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऊपर की पंक्तियों से उस क्षति का पूरा ज्ञान नहीं हो सकता, जो कि आचार्य महेन्द्र के अवसान से हुआ है। भारत परतंत्रता के अन्धकार में सात शताब्दियों तक भटकता और गिरावट की ओर जाता रहा। उसकी बहुत सी अनमोल निधियाँ नष्ट हो गयीं, जिनमें अनेक अनमोल ग्रंथ भी थे। तो भी विद्या के लिए विदेह बने पंडितों ने संस्कृत के भंडार की रक्षा की, शास्त्रों के अध्ययन और अध्यापन में जीवन बिताया। पर इस सारे समय में एक बड़ी क्षति यह हुई, कि हमारे प्राचीन शास्त्रों में से कितनों की पढ़ाई छूट गयी। वाराणसी, नवद्वीप, पूना, कुम्भाकोणम् के दिग्गज विद्वान् प्राचीनन्याय की ओर हाथ बढ़ाने की भी क्षमता नहीं रखते थे। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के समय तक यही हालत रही। वाराणसी में पंडित अम्बादास शास्त्री किसी तरह "न्यायकुसुमांजलि" को पढ़ा दिया करते थे। नयी पीढ़ी के पंडितों को इससे सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने उस संस्कृत पर अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रयत्न आरंभ किया; जिसके बिना जैन, बौद्ध, ब्राह्मणिक आदि प्राचीन दर्शन के ग्रंथ बन्दपोथी बने हुए थे। अपने समय के सर्वश्रेष्ठ काशी के विद्वान् महामहोपाध्याय पं० बालकृष्ण शर्मा ने एक बार अपनी लिखी कापियाँ दिखलायी थीं; जिनमें वात्स्यायन, उद्योतकर, कुमारिल, वाचस्पति, जयन्त, श्रीहर्ष आदि की कृतियों से बौद्धों के पक्ष को जमा करके उन्हें समझने की कोशिश की गयी थी। आज के सुलभ कितने ही महत्वपूर्ण बौद्ध-ग्रंथ उस समय सदा के लिए लुप्त समझे जाते थे। हमारे पंडितों ने अपनी खो-सी गयी निधि को इसप्रकार प्राप्त करने में बहुत कुछ सफलता पायी। महेन्द्रजी उन्हीं में से अन्यतम थे। उन्होंने प्राचीन ब्राह्मण दर्शन-ग्रंथों का गंभीर अध्ययन किया, बौद्ध-दर्शन का अवगाहन किया, और जैनदर्शन पर अधिकार प्राप्त किया। हिन्दू विश्वविद्यालय में बौद्धदर्शन के अध्यापक हुए। इसी से उनकी इस योग्यता का पता लगेगा। हाल ही में वह संस्कृत विश्वविद्यालय में 'जैनधर्मदर्शन और प्राकृत विभाग' के अध्यक्ष नियुक्त हुए थे, परन्तु कार्यभार संभालने से पहले ही महाप्रस्थान कर गये।

आचार्य महेन्द्र अथक परिश्रमी थे, तभी तो उन्होंने इतनी थोड़ी आयु में दर्जनों संस्कृत के प्रौढ़ दर्शन-ग्रंथों की विशाल भूमिका लिखी तथा उनका अनुवाद या वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पादन किया। वे ग्रन्थ ये हैं – (1) 'न्यायकुमुदचन्द्र' (2) 'प्रमेयकमलमार्तंड' (3) 'अकलंकग्रंथत्रय' (4) 'न्यायविनिश्चय' (5) 'तत्त्वार्थवार्तिक' (6) 'सिद्धिविनिश्चय' (7) 'तत्त्वार्थवृत्ति' (8) 'जयधवल' (9) 'प्रमाणमीमांसा' (10) 'जैनतर्कभाषा जैनदर्शन' (11) साढ़े छः सौ पृष्ठों का 'जैनदर्शन' उनके दार्शनिक ज्ञान की परिपक्वता के परिचायक रहेंगी। उनके निम्न ग्रंथ प्रकाशनार्थ तैयार हैं—(1) 'षड्दर्शनसमुच्चय'[1] (2) 'सत्यशासनपरीक्षा' (3) 'विश्वतत्वप्रकाश' (4)'प्रमाणप्रमेयकलिका' (5) 'युक्त्यनुशासन' (6) 'आत्मानुशासन' (7) 'विविधतीर्थकल्प' (8) 'प्रभावकचरित्र'।

वह अपनी पूरी क्षमता का उपयोग नहीं कर सके। वह अपने वर्तमान से संतुष्ट नहीं

1. मरणोपरान्त भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली से प्रकाशित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थे, इसीलिए अपनी साधना में सतत तत्पर थे, और इस आयु में समर्थ पंडित बनने के बाद भी तिब्बती भाषा पर अधिकार प्राप्त करने में लगे हुए थे। वह जानते थे, दो लाख श्लोकों से अधिक संस्कृत दर्शनग्रंथ तिब्बती अनुवादों में ही सुरक्षित है; उनके बिना भारतीय दर्शन का अध्ययन पूरा नहीं समझा जा सकता। उन्होंने मुझे तिब्बत जाते देख कहा था, "मेरी आवश्यकता हो, तो मुझे अवश्य बुलाइयेगा।'' एक जैन वातावरण में पले-पोसे विद्वान् के लिए तिब्बत अनुकूल स्थान नहीं हो सकता; पर जिसने विद्याव्रत धारण किया है, वह किसी भी बाधा से हिचक नहीं सकता।

"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये'' की तरह आज के हजारों संस्कृत के साधकों में महेंद्रजी एक सिद्धि-प्राप्त थे। उतने ही से सन्तुष्ट न रह अपनी साधना को बढ़ा रहे थे। भावी पीढ़ी से मैं निराश नहीं हूँ। महेंद्र का स्थान उन्हें भरना होगा; पर वह कितना कठिन है, इसे समझना कठिन नहीं है।

हमारे देश में संस्कृत की रक्षा और प्रचार के लिए बहुत चर्चा सुनीं जाती है। उसके लिए भारत-सरकार ने आयोग भी नियुक्त किया था। उसने अपने सुझाव भी उपस्थित कर दिये हैं; पर जान पड़ता है उनका ध्यान अधिकतर संस्कृत के प्रचार पर ही है। संस्कृत के प्रचार पर माथा-पच्ची करने की वस्तुत: आवश्यकता नहीं है। हमारी सभी भाषाएँ संस्कृत के अवलंब से विकसित और समृद्ध हुई हैं। उन पर अच्छा अधिकार पाने के लिए संस्कृत की बड़ी आवश्यकता है, इसे सभी समझते हैं और उसी के अनुसार असमिया, बंगला, उड़िया, मराठी, हिन्दी, गुजराती, नेपाली ही नहीं तेलुगु, कन्नड़, मलयालम् के क्षेत्र में भी संस्कृत का प्रचार बढ़ रहा है। वस्तुतः समस्या संस्कृत के प्रचार की नहीं है, बल्कि यह है कि संस्कृत के गंभीर पांडित्य की रक्षा कैसे की जाए? उन्नीसवीं सदी के अन्त तक नहीं बल्कि बीसवीं सदी के मध्य तक बढ़े आते पांडित्य की—जिसके प्रतिनिधि आचार्य महेंद्र थे—रक्षा कैसे की जाये? आज का शिक्षित पुरुष अध्ययन जल्दी समाप्तकर अधिक वेतनवाली नौकरी प्राप्तकर निश्चिन्त सुख का जीवन बिताना चाहता है। वह 48 या 50 वर्ष तक विद्यार्थी रहकर तपस्वी और अकिंचन का जीवन बिताना नहीं चाहता है। यदि हम चाहते हैं कि हमारे मेधावी तरुण संस्कृत के गंभीर विद्वान् बनने के लिए प्रयास करें; तो उन्हें निश्चिन्त सुखपूर्वक जीवन पाने की सुविधा करनी होगी।

महेंद्रजी पुराने मध्यप्रदेश के एक छोटे-से गाँव खुरई (सागर) में एक अतिसाधारण जैन घर में पैदा हुए थे। अपनी विद्या की उत्कट भूख को तृप्त करने के लिए आज से पौन सदी पहले वह वाराणसी आये। प्रायः उसी समय मेरा उनसे संपर्क हुआ। उनकी रुचि दर्शन जैसे गंभीर विषय की ओर हुई। कलकत्ता से "न्यायतीर्थ'' और काशी संस्कृत महाविद्यालय (अब संस्कृत विश्वविद्यालय) की 'न्यायाचार्य' परीक्षा पास की। कितने ही वर्षों तक काशी के स्याद्वाद महाविद्यालय में अध्यापक रहे। फिर हिन्दू विश्वविद्यालय में गये। दुर्लभ ग्रंथों को प्रकाश में लानेवाली काशी की महती संस्था "भारतीय ज्ञानपीठ" को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्तित्व में लाने में उनका बड़ा हाथ था। उसके बहुत से ग्रंथों का उन्होंने संपादन किया। अप्रतिम जैन नैयायिक अकलंक की महत्वपूर्ण कृति 'सिद्धिविनिश्चय' लुप्त हो गयी थी। इस ग्रंथ की मूल कारिका पर ग्रंथकार ने स्वयं टीका लिखी थी, वह भी अप्राप्य थी। इन पर लिखी अनन्तवीर्य की टीका मिली थी सो भी अशुद्ध। महेंद्र जी इस प्रयास के बारे में लिखते हैं– "जब 1944 में भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना हुई, तो उसके कार्यक्रम में आचार्य अकलंक के ग्रंथों के प्रकाशन को प्राथमिकता दी गयी। इस समय तक आचार्य धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक, वादन्याय, हेतुबिन्दु'; प्रज्ञाकरगुप्त का 'प्रमाणवार्तिकालंकार', अर्चट की 'हेतुबिन्दु टीका', जयसिंहभट्ट का 'तत्वोपल्लवसिंधु', कर्णगोमी की 'प्रमाणवार्तिकस्ववृत्ति' टीका आदि अमूल्य दार्शनिक साहित्य प्रकाश में आया था। 'सिद्धिविनिश्चय टीका' का बहुभाग इन्हीं ग्रन्थों के खंडन से भरा हुआ है; अतः कुछ उत्साह से इस अशुद्धिपुंज सिद्धिविनिश्चय टीका के संपादन का भी हुआ और ज्ञानपीठ से मुक्त होते ही वे इस कार्य में पूरी तरह जुट गये। लगभग 5 वर्ष की सतत साधना के बाद सिद्धिविनिश्चय टीका तथा उससे उद्धृत सिद्धिविनिश्चय मूल एवं उसकी स्ववृत्ति इस अवस्था में आ गये, कि उनके सम्पादन और प्रकाशन के विचार को प्रोत्साहन मिला। प्रयत्न करने पर भी अभी तक न तो सिद्धिविनिश्चयमूल और स्ववृत्ति की ही दूसरी प्रति मिली और न सिद्धिविनिश्चय टीका की दूसरी प्रति।''

यही उनका सबसे अन्तिम प्रकाशित ग्रंथ है, और इसी की विद्वत्तापूर्ण 116 पृष्ठों की भूमिका पर आचार्य को हिन्दू विश्वविद्यालय ने पी-एच.डी. की उपाधि प्रदान की।

महेन्द्रजी संस्कृत और प्राकृत के ही महान् विद्वान् नहीं थे, बल्कि हिन्दी के सुलेखक और प्रेमी होने के नाते हिन्दी की जननी अपभ्रंश भाषा के भी सतर्क गवेषक थे। आज यह विडंबना मालूम होती है, पर आज से दो ही पीढ़ी पहले हमारे दिग्गज विद्वान् भी नहीं जानते थे कि हमारी आज की भाषाओं की जननी, एक समृद्ध भाषा अपभ्रंश थी; जिसने सातवीं से बारहवीं शताब्दी तक उत्तरी भारत पर अक्षुण्ण प्रभुत्व रखा था। छठी सदी उसका अपनी जननी प्राकृत के साथ का और तेरहवीं सदी अपनी पुत्रियों—आज की हिन्दी आदि भाषाओं —के साथ का संधिकाल था। संस्कृत के पंडित अपभ्रंश का नाम आने पर तुरन्त पतंजलि के महाभारत की पंक्तियाँ यादकर उसे ईसापूर्व दूसरी सदी के गावा-गोणी-गोपोतलिका आदि शब्दावली भाषा से जोड़ देते थे। आज तो अपभ्रंश के दर्जनों बड़े-बड़े ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। उसकी समृद्धि की धाक स्वयंभू के 'रामायण' 'महाभारत' जैसे महाकाव्यों द्वारा स्थापित हो चुकी है। मेरी तरह आचार्य महेंद्रकुमार जी अपभ्रंश की नयी-नयी कृतियों की खोज में थे। अपभ्रंश के पद्यग्रंथ बहुत मिले थे, जिनमें से थोड़े ही प्रकाशित हो सके हैं; परन्तु अपभ्रंश गद्य देखने में नहीं आया था। एक दिन वाराणसी में मुलाकात होने पर उन्होंने बड़ी प्रसन्नता के साथ एक जीर्ण-शीर्ण पांडुलिपि दिखाते हुए कहा – "यह अपभ्रंश गद्य है, कोई व्रतकथा है।'' महेंद्र जी सदा स्मितपूर्वाभिभाषी थे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनकी हृदयस्थ उदारता मुस्कुराहट के रूप में सदा मुँह पर नाचा करती थी। उन्होंने बतलाया—"यह पुस्तक बतला रही है कि छोटे-मोटे जैनभंडारों में ढूँढने पर अपभ्रंश के और भी गद्य-ग्रंथ मिल सकते हैं।" जहाँ वह "प्रमाणविनिश्चय" को तिब्बती से उद्धार करने में लगे हुए थे, वहाँ अपभ्रंश की ओर भी ध्यान रखते थे।

अनुदार अर्थ में वह जैन नहीं थे। वह भली-भाँति समझते थे कि जैन-धरोहर के रूप में भारतीय संस्कृति की ऐसी अनमोल निधियाँ सुरक्षित हैं, जो जैनों के अभाव में सदा के लिए विलुप्त हो जातीं। विद्वान् जानते हैं, हमारे देश में हमारी भाषाओं का रूप वैदिकभाषा से पालि-प्राकृतों, अपभ्रंशों के रूप में होते-होते आज की भाषाओं में विकसित हुआ। ब्राह्मणों के वाङ्मय को देखने से मालूम होता है कि केवल संस्कृत ही सर्वदा सर्वेसर्वा रही। उन्होंने बीच की लोकभाषाओं के लोक या शिष्ट-साहित्य की रक्षा नहीं की। अभी हाल तक संस्कृत-पंडित-मंडली उन्हें "भाखा" कहकर तिरस्कृत करती थी। ब्राह्मण भाषा-कवियों ने अपने समय में प्राकृत और अपभ्रंश में भी रामायण और महाभारत को भाषानिबद्ध किया होगा, तीर्थों के एकादशी आदि के माहात्म्य बनाये होंगे। पर उन्हें ब्राह्मण पुरोहितों और पंडितों ने 'भाषा' के साथ मर जाने दिया। क्यों? इसीलिए कि वह संस्कृत के सामने किसी की सत्ता नहीं स्वीकार करते थे। जैन और बौद्ध इसके बारे में दूसरा ही भाव रखते थे। उनके लिए प्राकृत या अपभ्रंश संस्कृत से कम महत्त्व नहीं रखती थी। प्राकृत-काल में लिपिबद्ध होने से श्रमण महावीर की वाणी प्राकृतरूप में ही हमारे सामने मौजूद है।

जब सुबन्धु और दंड़ी के समय अपभ्रंशभाषा का आरंभ हुआ, तो जनसाधारण के लिए उसमें ग्रंथ लिखे जाने लगे। 12-13 सदी में अपभ्रंश के समाप्त होने पर उनका उपयोग साधारण जनता के लिए नहीं रह गया, तो भी जैन उपाश्रयों और भंडारों से उनको बाहर नहीं फेंका गया। आज वह हमारे लिए बहुमूल्य निधि है, भाषा और तत्कालीन संस्कृति के समझने के लिए अनुपम साधन हैं। ऐसी निधि जिस संप्रदाय (जैन) ने सुरक्षित की, उसके महत्त्व को कैसे इन्कार किया जा सकता है? संस्कृति में सांप्रदायिकता का स्थान नहीं है। वस्तुतः संस्कृति ही क्षण-क्षण परिवर्तित, परिवर्द्धित होते हुए भी स्थायी और मूल्यवान् वस्तु है। वही हमें बाँधे हुए है। पर अब भी हमारे में से कितनों का दृष्टिकोण उदार नहीं है। तभी तो हमारे हिन्दी साहित्य के इतिहासकार सैकड़ों सुन्दर जैनकाव्यों में से किसी का उल्लेख नहीं करते। हाल में बौद्धों के प्रति वह संकीर्णता बहुत हद तक दूर हुई है। अब चौरासी सिद्धों और उनकी कृतियों की चर्चा हर एक हिन्दी के विद्वान् के मुख पर है।

राजस्थान और गुजरात के पुस्तक-संग्रहालयों के अनुसंधान में बतलाया गया है, कि वहाँ की साहित्यिक परंपरा आज तक अक्षुण्ण चली आई है और वह जैनों के प्रयास से ही। बुंदेलखंड में जैन बराबर के निवासी रहे, और अपनी जीविका के कारण साक्षर होते रहे। अपभ्रंश से अक्षुण्ण सम्बन्ध स्थापित करनेवाली कड़ी-'बुंदेली-साहित्य' वहाँ के जैनमंदिरों और समाज में जरूर मिलना चाहिए। महेंद्रजी से इसके बारे में बात हुई थी। महेंद्रजी इसके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महत्त्व को भली भाँति समझते थे। अपभ्रंश के साथ हमारी आज की भाषाओं में बहुत कम अविच्छिन्न सम्बन्ध मिलता है। हिन्दीक्षेत्र में राजस्थानी के बाद केवल मैथिली ऐसी भाषा है, जिसके यशस्वी कवि विद्यापति ने दोनों में कविता की है। विस्तृत गवेषणा करने पर जैनग्रंथों द्वारा बुन्देली का भी ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो जाये, तो कोई अचरज नहीं।

जो अपभ्रंश आज साहित्यिकरूप में प्राप्य है, वह अधिकतर मध्यदेशीया (कनौजिया) अपभ्रंश है। प्राचीन उपनिषदों—बृहदारण्यक, छांदोग्य—की भाषा अपने समय की कौरवी भाषा थी, जिसे 'कौरवी संस्कृत' कह लीजिये। उसकी प्राकृत और अपभ्रंश का क्या रूप था, यह कहा नहीं जा सकता। आज हमारी हिन्दी उसी कौरवी का साहित्यिकरूप है। इसका प्राचीनतम रूप कुछ विकृतरूप में दक्खिनी-हिन्दी के गद्य-पद्य में पंद्रहवीं सदी तक जाता है। कौरवी का विशाल क्षेत्र बिजनौर से फिरोजपुर तक फैला हुआ है, वहाँ बड़े गाँवों तक में परम्परागत जैन परिवार मिलते हैं; कस्बों तक में जैनमंदिर होते हैं; जिनमें कुछ न कुछ हस्तलिखित ग्रंथ रहते हैं। उनका अभी अनुसंधान नहीं हुआ होता, उन्हें अगरचन्द नाहटा जैसे धुन के पक्के पुरुष से वास्ता नहीं पड़ा। इस क्षेत्र में कौरवी के प्राचीन गद्य-पद्य जैनग्रंथों के रूप में मिल सकते हैं।

जैन जीवित परम्परा के रूप में हमारे पास कितनी समृद्ध सामग्री मौजूद है? —इसे हम संकीर्ण सांप्रदायिक दृष्टि से नहीं देख सकते। आचार्य महेंद्र के अभाव का भी मूल्यांकन वह दृष्टि नहीं होने देगी। 'हिन्दू' शब्द का आज का प्रयोग भी इस संकीर्णता का एक कारण है। हिन्दू शब्द कभी एक धार्मिक सम्प्रदाय के लिए हमारे यहाँ प्रयुक्त नहीं होता था। यह हमारे विशाल देश के लोगों और उनकी संस्कृति के लिए प्रयुक्त होता था। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन सभी 'हिन्दू' कहे जाते थे। आज भी चीन या जापान में भारतीय बौद्ध 'इन्दो' (हिन्दू) हैं। रूस में सभी भारतीयों को 'इन्दुस' कहा जाता है। यह सांस्कृतिक एकता हमारे भेदभाव को मिटाने के लिए उद्यत है। श्रमण-ब्राह्मण-परंपरा हमारी संस्कृति की पूरक है।

महेंद्रजी दिगंबर जैनकुल में पैदा हुए थे, पर वह श्वेतांबर-दिगंबर की लीक पीटने वाले नहीं थे; एक सच्चे विद्वान् की तरह नानारूपों में प्रवाहित हमारी कृतियों के साथ ममत्व रखते थे। कुछ दिनों पहले उन्होंने श्रमणसंस्कृति पर एक विचारपूर्ण लेख लिखा था।

तिब्बत की यात्राओं से लौटकर आते समय महेंद्रजी से मेरा संपर्क स्थापित हुआ। मेरे सामने ही उनका स्पृहणीय विकास होता रहा, उनके सपने साकाररूप धारण करते गये। उसके साथ उनकी जिज्ञासा और योग्यता का कलेवर बढ़ता गया। उनसे बहुत आशा थी। शरीर देखने में स्वस्थ मालूम होता था, इसलिए कभी मन में कल्पना भी नहीं हुई थी कि 70-80 से पहले वह अपने काम से उपराम लेंगे। उस आयु तक पहुँचकर वह कितना काम करने में सफल होते। पर, मनचेती मन में ही रह गयी। महेन्द्र बिना पूरी तरह खिले ही मुर्झा गये।

—(सरस्वती, इलाहाबाद से साभार)**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण-परम्परा

—आचार्यश्री विद्यानन्द जी

श्रमण संस्कृति—हमारे देश का नाम भारतवर्ष है। इस नाम में नागरिक सभ्यता का इतिहास अन्तर्निहित है, जो इस देश ने संसार को दी थी। इस नाम के लेतें ही हमारे नेत्रों के समक्ष वह चित्र चलचित्र की तरह घूम जाता है, जब एक नई सभ्यता द्रुतगति से विकसित हो रही थी; मानव वन्य-संस्कृति को अन्तिम नमस्कार करके नागरिक सभ्यता अपना रहा था। संसार के आद्य महापुरुष, आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव, असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प-इन छह कर्मों की जगत को शिक्षा देकर एवं सामाजिक और प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित करके प्रव्रजित हो गये थे और एक हजार वर्ष तक अपूर्व आध्यात्मिक तपःसाधना द्वारा पूर्ण आत्म-सिद्धि प्राप्त करने में सफल हुए वे भगवान् बन गये। उन्होंने जगत् को उपदेश दिया—"सब मृत्यु से डरते हैं, किन्तु समय आने पर सब मरते हैं। दुःख कोई नहीं चाहता, किन्तु सब दुःखी हैं। कोई व्यक्ति, कोई शक्ति तुम्हें मृत्यु और दुःख से नहीं छुड़ा सकती। यदि तुम्हें मृत्यु और दुःख से सदा के लिये छूटना है; तो तुम्हें श्रम करना होगा, पुरुषार्थ करना होगा।" यही श्रमाधारित पुरुषार्थमूलक संस्कृति आगे चलकर 'श्रमण संस्कृति' कहलाने लगी। यह इस देश की मूल संस्कृति थी।

भारतवर्ष का नामकरण—इन्हीं दिनों में भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र महाराज भरत इस देश के (तत्कालीन नाम अजनाभवर्ष) बिखरे हुए राज्यों को जीतकर एक संगठित महासाम्राजय की स्थापना में लगे हुए थे। जब वे देश की सम्पूर्ण इकाइयों को एक झण्डे के नीचे संगठित करने में सफल हो गये, तो समूचे देश के प्रतिनिधियों की सभा बुलाकर उसमें दो महत्त्वपूर्ण घोषणाएँ कीं। प्रथम घोषणा के द्वारा उन्होंने 'चक्रवर्ती सम्राट्' का विरुद धारण किया। दूसरी महत्वपूर्ण घोषणा उन्होंने यह की—"आज से इस देश का नाम 'भारतवर्ष' घोषित किया जाता है।"

सहस्राब्दियाँ, लक्षाब्दियाँ बीत गईं; आज तक इस देश का नाम 'भारतवर्ष' ही चला आता है। इसके साथ इस देश के प्रथम चक्रवर्ती के रूप में ऋषभदेव के पुत्र भरत को इस देश का नामकरण 'भारतवर्ष' करने का श्रेय दिया जाता है।

श्रमणेतर संस्कृति—मूलतः इस देश के निवासियों की एक ही संस्कृति थी। वह थी श्रमण संस्कृति। अनेक युग बीत गये। तब इस देश ने एक नई संस्कृति के दर्शन किये। इस संस्कृति में ईश्वर नाम की एक ऐसी शक्ति की कल्पना की गई, जो इस जगत का कर्त्ता, पालनकर्त्ता और संहारकर्त्ता है। इसको प्रसन्न करने से हमारी कामनाओं की पूर्ति हो जायगी। इसमें पुरुषार्थ के स्थान पर भाग्य को प्रधानता दी गई थी।

श्रमण और इतर संस्कृति में मौलिक अन्तर—श्रमण संस्कृति के प्रतिष्ठापक क्षत्रिय थे। अतः श्रमण संस्कृति को क्षत्रिय संस्कृति भी कहा जाता था। श्रमणेतर संस्कृति वैदिक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ब्रह्मणों ने प्रतिष्ठित की थी। अत: उसे वैदिक संस्कृति अथवा ब्राह्मण संस्कृति भी कहा जाता था। श्रमणों के धर्म का मूल आधार अहिंसा थी। उसमें क्रियाकाण्ड पर विशेष बल न देकर अध्यात्म पर जोर दिया गया था। उसमें आत्मा-अनात्मा की गहरी मीमांसा की गई थी। उसमें दु:खों से पूर्ण मुक्ति के लिये मोह और उसके साधन पदार्थों का त्याग करते हुए सर्वस्वत्यागी मुनिदशा प्राप्त करना अनावश्यक बताया गया। दूसरी ओर वैदिक संस्कृति में हिंसामूलक क्रियाकाण्डों को अपरिहार्य करार दिया गया। इस संस्कृति में आत्मा की चर्चा नहीं है, त्याग को महत्त्व नहीं दिया गया, सन्यास आश्रमवाद की कल्पना है। इसमें परिनिर्वाण अथवा मोक्ष की भी कोई स्पष्ट परिकल्पना नहीं मिलती। इसको ईश्वर से याचना करना ही भक्ति बताई गई है। यह याचनाप्रधान संस्कृति है।

श्रमण-परम्परा की प्राचीनता—जैन और वैदिक साहित्य के गहन तुलनात्मक अध्ययन से यह फलित होता है कि प्राचीन काल से जैनमुनियों को 'श्रमण' कहा जाता रहा है। आचार्य कुन्दकुन्द आदि जैन आचार्यों ने जैन मुनियों के लिये 'श्रमण' शब्द का उपयोग अनेक स्थलों पर किया है। इसीप्रकार हिन्दू पुराणों[1], नारिदीय संहिता, वाल्मीकि रामायण[2] आदि वैदिक ग्रन्थों में भी 'श्रमण' शब्द जैन मुनियों के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। अनेक जैनेतर विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि 'श्रमणों की परम्परा एक प्राग्वैदिक परम्परा थी।' वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति (स्व०) डॉ० मंगलदेव शास्त्री[3] ने लिखा है—

'वैदिक साहित्य की अपेक्षा यह शब्द जैन परम्परा में बहुत प्रचलित है। और वहाँ इसका प्रयोग जैन मुनियों के लिये रूढ़ है। इसका अर्थ प्राय: दिगम्बर ही किया जाता है। श्रमण शब्द भी क्रमश: जैन, बौद्ध साधुओं के लिये प्रयुक्त होने लगा था। स्पष्टतया 'वातरशना' शब्द श्रमण शब्द की तरह मुनि-सम्प्रदाय का ही शब्द है, जो निश्चय ही एक प्राग्वैदिक परम्परा थी। इस शब्द के प्रयोग से भी वैदिकधारा पर प्राग्वैदिक मुनि-सम्प्रदाय की धारा का प्रभाव स्पष्ट होता है।'

भागवतकार की दृष्टि में श्रमण—यहाँ श्रीमद्भागवत[4] से एक उद्धरण देना ही पर्याप्त होगा, जिसमें श्रमणों के महान् चारित्र की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की गई है—

"कृतयुग में लोग चार प्रकार का धर्म धारण करते हैं। वे धर्म के चार पाद—सत्य, दया, तप और दान हैं। प्रायश: श्रमण (मुनि) सन्तुष्ट, करुणावान्, मैत्री भावयुक्त, शान्तस्वभावी, इन्द्रियविजयी, तितिक्षा से युक्त, आत्मा में रमण करनेवाले और समदृष्टि होते हैं।"

वातरशना मुनि—वेदों, उपनिषदों और निघण्टु आदि भाष्यों में जैन मुनियों लिये व्रात्य, श्रमण और वातरशना शब्दों का प्रयोग अनेक स्थानों पर किया गया है। यह तो शोध का विषय हो सकता है कि इन शब्दों का प्रयोग किस प्रागैतिहासिक काल में किया गया है। किन्तु इतना निश्चित है कि 'व्रात्य' शब्द ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है; उसमें एक पृथक् 'व्रात्य-सूक्त' ही है। उसमें व्रात्यों की स्तुति की गई है। वेदों और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपनिषदों में वातरशना मुनियों की भी चर्चा मिलती है। श्रीमद् भागवत, बाल्मीकि रामायण और हिन्दू पुराणों में वातरशना मुनियों और श्रमणों की चर्चा अथवा उल्लेख मिलते हैं।

'सायणभाष्य' में वातरशना मुनियों की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

'वातरशन श्रमण ऋषि ऊर्ध्वमन्थी हुए। उनके समीप उत्तर ऋषि प्रयोजनवश उपस्थित हुए। उन्हें देखकर वातरशन ऋषि कहीं अन्तर्हित हो गये। वे वातरशन कूष्माण्ड नामक मंत्रवाक्यों में अन्तर्हित थे। तब उन्हें अन्य ऋषियों ने श्रद्धा और[5] तप से प्राप्तकर लिया। ऋषियों ने उन वातरशन मुनियों से प्रश्न किया—"किस विद्या से आप अन्तर्हित हो जाते हैं!'' वातरशन मुनियों ने उन्हें अपने अध्यात्म-निलय में आये हुए अतिथि जानकर कहा—'हे श्रमण मुनिजनो ! आपको नमोऽस्तु है, हम आपकी सपर्या (सत्कार) किससे करें।'' ऋषियों ने कहा—"हमें पवित्र (आत्मविद्या) का उपदेश दीजिये, जिससे हम निष्पाप हो जायें।''

श्री अम्बुजाक्ष[6] सरकार एम०ए०, बी०एल० का अभिमत है कि 'मुनयो वातरशना' कहकर ऋग्वेद (10/163/2) में जिननग्न मुनियों का उल्लेख है, विद्वानों का कथन है कि वे जैन दिगम्बर सन्यासी ही हैं।

निघण्टु में कहा है—"श्रमणा: दिगम्बरा: श्रमणा: वातरशना:।" श्रीमद्भागवत् (19/2/20) में बताया है—"श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारद:।" अर्थात् श्रमण वातरशन होते हैं और अध्यात्मविद्या में निपुण होते हैं।

सन्दर्भानुक्रमणिका

1. "पद्मिनी-राजहंसाश्च, श्रमणाश्च तपोधना:।''
2. "स चास्य कथयामास, शबरीं धर्मचारिणीं। श्रमणा धर्मनिपुणामभिगच्छति राघव:।।'' —*बालकाण्ड* "श्रमणी शबरो नामकाकुत्स्थ चिरजीविनी।'' —*अरण्यकाण्ड 73/26*। "तामुवाच ततो राम: श्रमणी धर्मसंस्थिताम्।'' —*अरण्यकाण्ड 74/7*
3. 'नवनीत', जून 1974, पृ० 66।
4. कृते प्रवर्तिते धर्मश्चतुष्पादोजनैर्धृत:। सत्यं दया तपोदानमिति पादा विभो नृप। सन्तुष्टा करुणा मैत्रा शान्ता दान्तास्तितिक्षव:। आत्मारामा: समदृश: प्रायश: श्रमणा जना:।।
   —*श्रीमदभागवत 12/3/18, 19*
5. *वातरशनाख्या ऋषय: श्रमणास्तपस्विन: ऊर्ध्वमन्थिन ऊर्ध्वरेतस:। तान् प्रति अन्ये ऋषय: अर्थयितुमागता:। एतान् वीक्ष्य वातरशना: कुत्रचित् अनिलाय-अन्तर्हिता:। ते हि कूष्ठाण्डाख्यानि मंत्रवाक्यानि अनुप्रविष्टा:। अरेपस: अपापा:।"

   * वातरशना: ह वा ऋषय: श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभुवुस्तावृषयोऽर्थमायंस्तेऽनिलायमाचरंस्तेऽनुप्रविशु: कूष्माण्डानि तांस्तेष्वन्वविन्दत् श्रद्धया च तपसा च। तानृषयोऽब्रुवन् कियानिलयं चरथेति ते ऋषीनब्रुवन्नमो वोऽस्तुभगवन्तोऽस्मिन्न धाम्मिकेन व: सपर्यामितिसानृषयोऽब्रुवन् पवित्रं नो ब्रूत येनारेपस: स्यामेतित एतानि सूक्तान्यपश्यन्।"
   —*सायण, तैत्तिरीय आरण्यक, प्रपाठक, अनुवाक 1-2*
6. वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० 92

**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनधर्म-दर्शन का विश्वव्यापित्व : कतिपय तथ्य

–डॉ० सुदीप जैन

"जैन भारत के मूल निवासी थे; जब आर्य भारत आये, तब यहाँ जैन संस्कृति का ही प्रमुख प्रभाव एवं प्रचार-प्रसार था'' –ऐसा पं० जवाहरलाल नेहरू ने 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' नामक अपनी विख्यात कृति में स्पष्टरूप से समुद्घोषित किया है। प्राय: विद्वत्सन्तति भी जैनधर्म-दर्शन एवं संस्कृति को भारतवर्ष की सीमाओं में ही स्वीकार करती है, किन्तु इसका चिरकाल से विश्वव्यापी प्रभावक्षेत्र भी रहा है–यह तथ्य बहुत कम लोगों की ज्ञान-परिधि में आया है। जैनधर्म-दर्शन एवं संस्कृति के विश्वव्यापी स्वरूप की स्वीकृति करते हुए प्रख्यात विद्वान् नीलकण्ठ दास लिखते हैं–

"ईसा के पूर्व सातवीं सदी में मनीषी पायथागोरस हुये; वे एक जैनसाधक थे और जैनसन्यासी भी। उनके देश और भारतदेश का सम्बन्ध मात्र 'इयावाणी' और 'ऋष्यशृंग' के उपाख्यान से ही अनुमित नहीं होता; बल्कि अति प्राचीनतम में भी 'बेबीलोन' और 'केपाडोसिया' (आज का ईराक एवं तुर्किस्तान) आदि पश्चिम के देशों एवं द्रविड़देश भारत इन दोनों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध था। संभवत: दोनों में एक ही विचारधारा के लोग थे।.....अब ज्ञात होता है कि जैनधर्म भी मूलत: अध्यात्मधर्म होने से जैन आदर्श एवं जैनसाधना-पद्धति प्राग्वैदिक भारत में, अर्थात् उस समय के सभ्य जाति के द्रविड़ों में विकसित होकर पृथ्वी में व्याप्त हुआ था।..... इस तरह जैनधर्म सारे संसार के धार्मिक तथा मानविक आत्मविकास का मूल है। कहा जा सकता है कि इसी के ऊपर मानव-समाज के विकास की प्रतिष्ठा आधारित है।''

इतना ही नहीं, प्रख्यात पुरातत्त्ववेत्ता एवं गवेषी विचारक मेजर जनरल जे०सी०आर० फर्लांग लिखते हैं—"पठन-पाठन से हमने दुनिया के सब विश्वासों तथा विचारों का विमर्श किया है, तथा सोचा कि ये भाव कहाँ से उठे?' उस मूल का अन्वेषण करें, तो कहना होगा कि ये भाव विचारशील जैनसाधुओं से उत्पन्न हुए हैं।' ये जैनसाधु अति प्राचीनकाल से समस्त पृथ्वी पर रहते आये हैं, जो कि संसार त्यागकर पवित्र उद्देश्य से एकान्त वनों तथा पर्वत-कन्दराओं में रहा करते थे।''[1]

वैदिक साहित्य में तो अनेकत्र जैन तीर्थंकरों, महापुरुषों, मुनियों एवं दार्शनिक-सांस्कृतिक विचारधारा का बहुमानसहित उल्लेख मिलता है, जिनका अनेकों विद्वानों ने अनेकों पुस्तकों एवं लेखों में विस्तार से वर्णन किया है; किन्तु वैदिकेतर धर्मों, विचारधाराओं एवं संस्कृतियों पर भी जैनधर्म-दर्शन एवं संस्कृति का प्रभाव रहा है–इसकी भी शोध-खोज आज सामने आने लगी है। प्रख्यात अन्वेषी विद्वान् डॉ० वेदप्रकाश सिंह ने अमेरिका, जिसे हम ईसाई धर्मप्रधान देश मानते हैं, में जैनधर्म-दर्शन एवं संस्कृति के प्रभाव का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"जैनधर्म में दृढ़ आस्था रखनेवाले कुछ लोग अमेरिका में जैनधर्म की विद्यमानता अतिप्राचीन काल से ही मानते हैं। उनका कहना है कि 'यदि भारत के 'पद्मपुराण' तथा कुछ अन्य प्राचीन ग्रंथों में वर्णित 'मय' नामक नरेश के बारे में यह कहा जाता है कि वह उसी 'मय' जाति का एक नरेश था, जिसका अस्तित्व हजारों वर्षों पूर्व अमेरिका में था; तो इसमें भी सन्देह करने की कोई गुंजाइश नहीं है कि वह 'मय' नरेश जैनधर्म से प्रभावित था।' 'हिन्दू अमेरिका' नामक प्रसिद्ध पुस्तक के लेखक भारतीय विद्वान् श्री चमनलाल ने भी अपनी पुस्तक में इस बात का स्पष्टरूप से उल्लेख किया है कि "मैक्सिको, जो कि प्राचीनकाल में मय-सभ्यता का प्रसिद्ध गढ़ रहा है, में उन्हें प्रचलित जैन रीति-रिवाज दृष्टिगोचर हुए। मैक्सिको में कुछ स्थानों पर ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं, जो जैनों के भगवान् ऋषभदेव की मूर्तियों से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। और इस सम्बन्ध में तो सन्देह करने की कोई गुंजाइश ही नहीं है कि जैन लोगों की तरह ही 'मय' जाति के लोग भी पर्वतों के शिखरों पर अपने देवी-देवताओं के चरण-चिह्न स्थापित कर उनकी पूजा-अर्चना किया करते थे।"

वे आगे लिखते हैं कि "अमेरिका में किसी समय 'होपी' और 'हुंजा' नामक दो रेड इंडियन जनजातियाँ काफी प्रभावशाली और शक्तिसम्पन्न थीं तथा आज भी इनके वंशज 'एरिजोना' नामक राज्य में निवास करते हैं और आज भी वे पूर्णतः शाकाहारी हैं। अज़ेरकों के अन्तिम सम्राट् मान्तेज़ुमा ने जिस त्यागभाव और दृढ़ता से अहिंसाधर्म का पालन किया, वह भी केवल एक जैनश्रावक के ही बस की बात थी। 'होपी' का अर्थ है 'प्रशान्त', जो उनकी शान्तिप्रिय और अहिंसक प्रवृत्ति का द्योतक है। अपने सुदीर्घ इतिहास में इस जनजाति ने शायद ही किसी विरोधी के विरुद्ध शस्त्र उठाये हों। वे अपने देवता को 'मासो' अर्थात् 'महान् दिव्य आत्मा' कहकर पुकारते थे। उनकी सबसे बड़ी धार्मिक मान्यता थी कि "किसी भी जीव की हत्या मत करो।' आज भी होपी जनजाति के वंशज अपनी मान्यता पर दृढ़ता से कायम हैं।"[2]

लगभग ईसापूर्व तीसरी शताब्दी में जब विश्वविजय की कामना लेकर सम्राट् सिकन्दर भारत को जीतने के लिए यूनान से चला, तो रास्ते में काकेकस पर्वत की हिमाच्छादित पहाड़ियों को पार करते समय उसने उस भीषण शीत की स्थिति में कई दिगम्बर जैनश्रमणों को वहाँ तपस्या/आत्मसाधना करते देखा। इसी से अत्यधिक प्रभावित होकर वह जब भारत से वापस यूनान लौटने लगा, तो अत्यन्त अनुनय-विनयपूर्वक एक दिगम्बर जैनश्रमण 'कल्याण मुनि' को अपने साथ यूनान ले गया था, जहाँ उन्होंने वीतराग जैनधर्म-दर्शन एवं संस्कृति का व्यापक प्रचार किया तथा आज भी उनकी एथेन्स (यूनान) में समाधि है, जो कि 'सेंट कोलानस' के नाम प्रसिद्ध है। इतिहास साक्षी है कि यूनान के जनजीवन एवं विचारधारा पर कल्याणमुनि (सेंट कोलानस) का जो व्यापक प्रभाव पड़ा, वह शताब्दियों तक परिलक्षित होता रहा।"[3]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुछ माह पूर्व ही ज्ञात हुआ है कि लीबिया की राजधानी त्रिपोली शहर के पास निर्जन रेगिस्तान में अतिप्राचीन एवं भव्य नन्दीश्वरद्वीप जिनालय की एवं समवशरण मन्दिर की रचना मिली है; जिसे अज्ञानता या प्रमादवश किसी ने भगवान् बुद्ध के मन्दिर के रूप में बता दिया; जिसके फलस्वरूप आजकल वहाँ इसी रूप में उसका परिचय दिया जाता है। जबकि नन्दीश्वरद्वीप एवं समवशरण की विशिष्ट रचनाशैली का जैनग्रन्थों में विशदरीत्या वर्णन प्राप्त होता है, तथा इन दोनों मन्दिरों की रचनाशैली एकदम हू-ब-हू उस वर्णन के अनुरूप ही है। तथा इनमें जो प्रतिमायें हैं, वे भी दिगम्बर मुद्रा में ही हैं। सम्प्रति प्रामाणिक पुरातत्त्वविदों एवं जैनकला स्थापत्य शैली के विशेषज्ञों से सम्पर्क कर इस तथ्य को उनसे पुष्ट कराना अपेक्षित है; ताकि सरकारी स्तर से इनको 'जैन मान्यूमेंट्स' (जैन पुरावशेष) घोषित कराया जा सके। बुद्ध के स्मारक तो ये कदापि हो ही नहीं सकते हैं, क्योंकि बौद्धधर्म-दर्शन-संस्कृति का प्रभाव क्षेत्र उत्तर, मध्य एवं पूर्व एशिया रहा है; पश्चिम एशिया एवं शेष विश्व में उसका प्रसार हो ही नहीं सका था। —यह बात बौद्ध इतिहास के विशेषज्ञ विद्वान् निर्विवादरूप से स्वीकार करते हैं। बौद्धों के ग्रन्थों में भी इन क्षेत्रों में भिक्षुओं के जाने या बौद्ध धर्म-दर्शन का प्रचार-प्रसार करने का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि बौद्धदर्शन का प्रारम्भ ईसापूर्व छठी शताब्दी में हुआ था, और उसके अभ्युदय एवं विकास की पूरी यात्रा का वृत्तान्त प्रायश: उनके ग्रन्थों में उपलब्ध है। जबकि जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर, महात्मा बुद्ध के समकालीन थे; उनसे पूर्व तेईस और तीर्थंकर सहस्राब्दियों के विभिन्न कालखण्डों में हुए, जिन्होंने जैनधर्म-दर्शन एवं संस्कृति की समय-समय पर प्रभावना की थी। इतना प्राचीन इतिहास तो किसी भी देश में उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर किन-किन देशों में, किस समय, कितना जैनधर्म-दर्शन और संस्कृति का प्रभाव था—इसे रेखांकित किया जा सके। किन्तु आधुनिक संसाधनों से समृद्ध शोधों के द्वारा उपलब्ध पुरावशेषों एवं विचारों, जनजीवन पर इसके प्रभाव की परम्परा का सूक्ष्म एवं निष्पक्ष अध्ययन करके ही इसका प्रभाव एवं प्रसारक्षेत्र पहिचाना जा सकता है।

जब इस्लामी संस्कृति के देश लीबिया में जैन पुरावशेष सुरक्षित मिले, तो मेरा ध्यान इस्लामधर्म एवं उसके धर्मग्रन्थों, धार्मिक स्थानों की ओर आकर्षित हुआ। मैंने एकाध बार कुछ मनीषियों से सांकेतिकरूप से यह सुना था कि हजरत मुहम्मद साहब के अभ्युदय के पूर्व इस्लाम के जन्मक्षेत्र (मक्का-मदीना) में जैनधर्म-दर्शन एवं संस्कृति का विपरीत प्राकृतिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों के बावजूद व्यापक प्रभाव था। मैंने इस क्षेत्र में कुछ बौद्धिक आयास प्रारंभ किये, तो प्रारम्भ में ही मुझे विश्वविख्यात विचारक एवं महान् लेखक साने गुरु जी द्वारा लिखित 'इस्लामी संस्कृति'[4] नामक पुस्तक, जो कि कई खंडों में है, हस्तगत हुई। इस पुस्तक की प्रस्तावना संत विनोबा भावे एवं पूर्व राष्ट्रपति जाकिर हुसैन जैसे विख्यात मनीषियों ने लिखी है—यह देखकर इसे पढ़ने की और अधिक जिज्ञासा हुई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मराठी भाषा में होने से किंचित्प्रारम्भिक कठिनाइयों के उपरान्त मैं इसे पढ़ गया और मुझे मेरी मनोवांछित वस्तु इसमें प्राप्त हो गयी। श्री साने गुरूजी ने इसमें स्पष्टरूप से घोषित किया है कि 'हज़ यात्रा के समय जो नियम पाले जाते हैं, तथा मक्का के पवित्र काबा के मंदिर (मस्ज़िद) में जो आचार संहिता का विधान है; वह दिगम्बर जैन संस्कृति के प्रभाव एवं अनुकरण का ही परिणाम है।' स्वयं साने गुरुजी के शब्दों में–

"काबाच्या मंदिरामुळे मक्काच नव्हे तर सारा जिल्हाच पवित्र मानला जाई। त्या काळ्या पाषाणांचे चुंबन घेण्यासाठी प्रतिवर्षी हजारों अरब येत दिगंबर होऊन सात प्रदक्षिणा घालीत। दिगंबर का व्हायचे? जे कपड़े अंगावर घालून पापे केली, ते कपड़े प्रदक्षिणेच्या वेळेस नकोत। हा दिगंबरजैन धर्माचा परिणाम असावा।"[5]

अर्थ–काबा के मंदिरों से मक्का ही नहीं, बल्कि पूरा जिला ही पवित्र माना जाता था। उस काले पत्थर का चुंबन लेने के लिए प्रतिवर्ष हजारों अरब लोग आते थे। दिगम्बर (निर्वस्त्र) बनकर सात प्रदक्षिणा देते थे। दिगंबर क्यों होते थे? क्योंकि जिन कपड़ों को शरीर पर धारणकर पाप किये थे, वे कपड़े प्रदक्षिणा के योग्य नहीं हो सकते हैं। –यह संभवत: दिगंबर जैनधर्म का प्रभाव रहा होगा।

उक्त प्रमाण मिलने के बाद इस्लाम धर्म-दर्शन एवं संस्कृति के विशेष अध्ययन की जिज्ञासा हुई। तो 'कुरान शरीफ़' का हिन्दी रूपान्तर एवं अन्य प्रासंगिक पुस्तकों का अध्ययन किया, तो कुछ और महत्त्वपूर्ण तथ्य मिले। यथा—

(i) "काऽन-न्नाऽसु उम्मतव्वा हिदतन।"[6]

अर्थ–'आरम्भ में सब लोगों का एक ही धर्म था।' —इस 'धर्म' से उनका तात्पर्य 'शांति' से प्रतीत होता है; क्योंकि प्रत्येक प्राणी सुख-शांति चाहता है तथा प्रत्येक धर्म भी अपना लक्ष्य प्राणी से सुख-शांति की प्राप्ति कराना ज्ञापित करता है। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि 'इस्लाम' शब्द का निर्माण 'सलम' शब्द से हुआ है, जिसका अर्थ 'शांति' है।

जैनदर्शन की मूलभित्ति आत्मिक चिन्तन एवं आत्मिक शांति पर आधारित है। यह बात समस्त विचारक निर्विवादरूप से विद्वज्जनों में स्वीकृत है। जैनसंतों ने आत्मचिंतन-ध्यान के आगे पुण्यकार्यों की गौणता प्रतिपादित की है,[7] इस्लाम में भी आत्मचिंतन की प्रधानता के बिना पुण्यकार्यों में निरत रहने की प्रवृत्ति रहने पर समस्त शास्त्राभ्यास की विफलता सूचित की है—

"अतअ् मुरून-न्नाऽसा बिल्बिर्रि व तन्सड्ना अन्फुसकुम्।
व अन्तुम् तत्लूनऽल्कि़ताबा़, अफलाऽन अकिलून्।।"[8]

अर्थ–क्या तुम अन्य मनुष्यों को पुण्य करने की प्रेरणा करते हो और आत्मचिन्तन नहीं करते? तुम तो 'इलाही' (धर्मग्रन्थ) पढ़ते हो, फिर क्या इतनी बात भी नहीं समझते?

यहाँ 'इलाही' शब्द से अभिप्राय 'ईश्वरीय उपदेश' या 'ईश्वरीय ग्रन्थ' से है। क्योंकि 'यहूदी भाषा (हिब्रू) में 'इलोहा' (अरबी में 'इलाह') ईश्वर को कहते हैं। किन्तु हजरत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूसा ने यहूदियों के मुख्य उपास्यदेव का नामकरण 'जिहोवा' कर दिया। 'जिहोवा' यहूदी भाषा का शब्द नहीं है, यह 'खाल्दी' भाषा के 'यवे' (संस्कृत-'जल्ह') शब्द से निकला बताया जाता है।[9]

जैनदर्शन में 'आत्मा' को ही परमात्मतत्त्व माना गया है। आ० कुन्दकुन्द कहते हैं कि—"अप्पा सो परमप्पा" यह जैनदर्शन की मौलिक विशेषता है। इस्लाम में भी इसकी प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती है–

"अनल्क ला इलाहा इल्ला अना", अर्थात् "(मंसूर ने ऐसा कहा कि) मेरे अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा अल्लाह (परमात्मा) नहीं है, (तो उसे सब कुछ मिल गया)।'' यहाँ 'अनल्हक' शब्द 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'अप्पा सो परमप्पा' का ही सूचक है। इस बारे में किसी सूफ़ी ने लिखा है—

"किया दावा 'अनल्हक' का, हुआ सरदार आलम का।
अगर सूली पै न चढ़ता, तो वो 'मंसूर' क्यों होता?"

जैनइतिहासपरक कथाग्रन्थ 'महापुराण' में लिखा है कि "मनुष्यजातिरेकैव"; तो इस्लाम भी मानता है कि "कानन्नासु उम्मतिन् वाहिदतिन् है",[10] —अर्थात् आरम्भ में सारे मनुष्य एक जाति के थे। बौद्धग्रन्थ में भी लिखा है–"एकैव मानुषी जातिरन्यत् सर्वं प्रपञ्चनम्" —अर्थात् समग्र मनुष्य जाति एक है, उसमें भेद की परिकल्पना एक प्रपंच है।

जैनदर्शन में सिद्धपरमात्मा को जन्म-जरा-मृत्यु से रहित, पूर्णज्ञानी एवं अनन्त आनन्दमय माना गया है। 'इस्लाम' में भी कहा है कि–"कुल हुवल्लाहु अहद्। अल्लाहुस्समद्। लम् यलिद् व लम् यूलद्। व लम् यकुन् कुफुवन् अहद्।।"[11] —अर्थात् 'कहो कि वह परमेश्वर एक सर्वाधार पूर्णज्ञानी है। वह न उत्पन्न करता है और न उत्पन्न होता है। और न ही कोई उसके समान है।'

कुरान में कहा है कि—'ऐसे परमात्मतत्त्व को जो विस्मृत करता है, वह अपने आप को भूल जाता है। तथा आत्मविस्मृति से बढ़कर हानिकारक अन्य कुछ नहीं है।''[12] आध्यात्मिक चिन्तन की परकाष्ठा पर वे जैन-अध्यात्मवादियों के स्वर में स्वर मिलाकर कहने लगते हैं कि 'कोरे शुष्क शास्त्रज्ञान से कोई लाभ नहीं है; बड़ी-बड़ी पुस्तकों को पढ़कर कोई ज्ञानी नहीं हो सकता, इसके लिए तो अपने उपयोग को आत्मा में स्थिर करना होगा'– "सद् किताबो सद् वरक् दर् नार् कुन्।
जानो दिल् रा जानिबे दिलदार कुन्।।"[13]

अर्थात् 'सैकड़ों पृष्ठोंवाली सैकड़ों पुस्तकों को दूर करो (उनसे ज्ञान की प्राप्ति होने वाली नहीं है), अपने मन को अन्तर में स्थित परमात्मतत्त्व की ओर लगाओ।' 'नमाज़'; वस्तुतः यह 'नमः' (नमस्कार हो) का ही बहुवचनसूचक रूप प्रतीत होता है। 'नमः के विसर्ग के 'स्' हो जाने परे रूप बनेगा 'नमस्'; इसको यदि अंग्रेजी में लिखा जाये, तो NAMAS ही लिखा जायेगा; जो कि उच्चारण करते समय 'नमास्' या 'नमाज़' की ध्वनि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देगा। भारतीय संस्कृति में इष्टदेवताओं को नमस्कार करके अपना आस्तिक्य प्रकट किया जाता है। उसी का परिवर्तितरूप 'नमाज़' है।

'नमाज़' में जो विनय एवं स्तुति का क्रम अपनाया गया है, वह विशुद्धरूप जैनधर्म में आगत 'चत्तारिदण्डक'[14] की पद्धति पर आधारित है। 'चत्तारि दण्डक' में परमपूज्य परमात्मा को सर्वप्रथम 'मंगल' रूप कहा है, फिर लोक में 'उत्तम' बताया है, और फिर उनकी 'शरण' लेने की भावना प्रकट की गयी है। 'नमाज़' में भी ठीक यही शैली अपनायी गयी है। देखें—

"सुब्हानक अल्लाहुमा ! व बिहम्दिक, व तबारक स्मुक, व न आला।
जद्दुक, व ला इलाह ग़ैरुक़, अऊजु बिल्लाहि मिनश्शैतानिर्रजीम्।।"[15]

अर्थ—मंगल हो तेरा हे महाप्रभो ! तेरी स्तुति और तेरा नाम मंगलमय है। और तेरा माहात्म्य उत्तम है। तेरे अतिरिक्त कोई पूजनीय नहीं है। दुष्ट शैतान (अर्थात् पापभाव) से बचने के लिए मैं तुझ महाप्रभु की शरण लेता हूँ।

"सुब्हान रब्बिय-ल्-अज़ीम्"—महाप्रभु का मंगल हो।

'सुब्हान' शब्द संस्कृत के 'शुभानि' शब्द के प्राकृतरूप 'सुहानि' से नि:सृत प्रतीत होता है।

इसप्रकार इस्लाम संस्कृति में अहिंसामूलक विचार एवं पवित्रताप्रधान धार्मिक जीवन-पद्धति के मूल में किसी अन्य प्राचीन संस्कृति के उदात्त विचार एवं सात्त्विक जीवनशैली रही होगा—यह स्पष्टरूप से प्रतीत होता है। और वह संस्कृति जैनसंस्कृति ही रही होगा—यह बात उपरिवर्णित तथ्यों से स्पष्ट हो जाती है। किन्तु इसके अनुयायियों में जो अन्य हिंसाप्रधान कुछ बातें आयीं, वे इनके अनुयायियों की इस्लाम अपनाने से पूर्व की जीवनपद्धति का प्रभाव प्रतीत होती हैं।

जैनधर्म-दर्शन-संस्कृति की साधना अपेक्षाकृत कठिन होते हुए भी इसका इतना विश्वव्यापी प्रचार-प्रसार कैसे हो सका? —इस प्रश्न का उत्तर प्रसिद्ध विद्वान् स्व० पं० सत्यदेव विद्यालंकार के निम्नलिखित विचारों में निहित है—

"बौद्धधर्म तथा ब्राह्मणधर्म की तरह जैनधर्म पतनोन्मुखी न होकर सदैव उत्क्रान्तिमूलक रहा है और उसका अस्तित्व युग-युगान्तरों की विनाशकारी परिस्थितियों में भी बना रहा है।...... जब समाज में धर्म से निराश होकर धर्मनिरपेक्ष भावना प्रबल हो रही है, तब जैनधर्म के अनुयायियों को यह सिद्ध कर देना चाहिए कि उनका धर्म विकासोन्मुखी होने के कारण सदा ही परिवर्धनशील रहा है। हर युग की मांग तथा आवश्यकता की उसने पूर्ति की है और आज भी उसमें 'राष्ट्रधर्म' की आवश्यकता की पूर्ति करने की क्षमता विद्यमान है।..... जैनधर्म का साम्यभाव केवल मानव समाज तक सीमित नहीं है, प्राणिमात्र उसकी परिधि में समा जाते हैं।..... इसप्रकार व्यावहारिकरूप में जैनधर्म की क्षमता असीम है।"[16]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सन्दर्भानुक्रमणिका

1. साइन्स ऑफ कॅम्परेटिव रिलीजन, पृष्ठ 14।
2. डॉ० वेदप्रकाश सिंह, 'भारत और अमेरिका', पृष्ठ 135।
3. विशेष द्रष्टव्य : क्षुल्लक पार्श्वकीर्ति जी द्वारा लिखित 'कल्याणमुनि और सिकन्दर' नामक पुस्तक।
4. यह पुस्तक 'साधना प्रकाशन, पुणे (महाराष्ट्र) से प्रकाशित है।
5. इस्लामी संस्कृति, खंड 1, पृष्ठ 34।
6. कुरान, सूरये बकर, 1/2/24/213।
7. आ० कुन्दकुन्द, आ० पूज्यपाद देवनन्दि एवं आ० योगीन्दुदेव का साहित्य इस दृष्टि से अवलोकनीय है।
8. कुरान, सूरये वकर, 1/1/6/44।
9. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 523।
10. राहुल सांकृत्यायन कृत इस्लामधर्म की रूपरेखा, पृ० 20 (कुरान, आयत 213)।
11. वही, पृ० 15, (कुरान, आयत 112)।
12. 'नसुल्लाहा फअन् साहुम् अन् फुसुहुम्;
इन्नल् खसिरीन् अल्लज् जीना खसेरु अन्फु सहुम्।''
13. मौलाना रूपी।
14. "चत्तारि मंगलं......'' आदि पाठ।
15. राहुल सांकृत्यायनकृत 'इस्लामधर्म की रूपरेखा', पृष्ठ 93।
16. 'बाबू छोटेलाल जैन स्मृतिग्रंथ' में प्रकाशित स्व० पं० सत्यदेव विद्यालंकार का लेख 'भारतीय जीवन-महानद के दो किनारे', पृष्ठ 354।

**

आत्मतत्त्व का प्रतिपादन

'व्यवहृतिरबोधजन बोधनाय कर्मक्षयाय शुद्धनयः।
स्वार्थं मुमुक्षुरहमिति वक्ष्ये तदाश्रित किंचित्।।'

अर्थ—व्यवहारनय अबोध (मंदमति) को समझाने के लिये है। परन्तु शुद्धनयं कर्मों व क्षय के लिये है। इसलिये मैं मुमुक्षु होकर अपने आत्मा के कल्याण के लिये उस शुद्धनिश्चयनय के आश्रित ही कुछ कहूँगा।

*

'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।।'

—कठोपनिषद् (2/7)

अर्थ—"(हे नचिकेता) जो बहुतों को तो सुनने को भी नहीं मिलता तथा बहुतेरे जन सुनकर भी जिसे नहीं समझ पाते; ऐसे इस गूढ़ 'आत्मतत्त्व' का वक्ता एक अचम्भा-सा ही होता है.......।''

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राचीन जैनसाहित्य में पाटलिपुत्र[1]

–प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन

[ईसापूर्व की अनेक सदियों से ही पाटलिपुत्र विश्व की सर्वश्रेष्ठ विकसित नगरियों में अग्रगण्य मानी जाती रही है। मेगास्थनीज, ह्यूनत्सांग एवं फाहियान ने मुक्तकण्ठ से उसकी श्रेष्ठताओं का भाव-विभोर होकर वर्णन किया है। प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश के प्राचीन प्रकाशित तथा अप्रकाशित जैन साहित्य में इनके अनेक प्रामाणिक तथ्य भरे पड़े हैं।]

जैनसंस्कृति, वैदिक, जैन एवं बौद्ध रूप भारतीय संस्कृति की त्रिवेणी का एक प्रमुख अंग है। जैनाचार्यों ने प्रारम्भ से ही उसके विकास एवं संरक्षण में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। एक ओर उसने स्याद्वाद एवं अनेकान्त के माध्यम से समन्वय का आदर्श प्रस्तुत किया, तो दूसरी ओर, शिलालेखों, गुफागृहों एवं ग्रन्थ-प्रशस्तियों के माध्यम से भारतीय इतिहास की अनेक महत्त्वपूर्ण कड़ियों को जीवित बनाए रखा तथा प्राच्य जैनशास्त्र-भण्डारों के माध्यम से उसने भारतीय विद्या के अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों को सुरक्षित रखा है। नन्द एवं मौर्यवंशी राजाओं के वर्णन, महामति चाणक्य के उत्तरवर्ती जीवन, महाकवि कालिदास एवं भारवि के काल-क्रम के निर्धारण, मगध एवं विदेह की दार्शनिक एवं सांस्कृतिक परम्पराएँ, दिल्ली एवं गोपाचल के तोमरवंशी तथा चन्द्रवाडपट्टन के चौहानवंशी राजाओं के कालक्रम सम्बन्धी क्रमबद्ध सन्दर्भ भी प्राचीन जैनसाहित्य में सुरक्षित हैं।

जैनधर्म का चरम विकास हुआ मगध एवं विदेह क्षेत्र में। यहीं से वह देश-देशान्तरों में फैला। उसके 24 में से 22 तीर्थंकरों को इसी पवित्र भूमि से बोधि एवं निर्वाण-प्राप्ति हुई। अनेक तीर्थंकरों की यह जन्मभूमि भी रही। इन्हीं तीर्थंकरों एवं जैनसाधकों के निरन्तर विहार करते रहने अर्थात् गमनागमन करते रहने के कारण इस प्रदेश का नाम "बिहार" पड़ा। जैनधर्म की दृष्टि से अत्यन्त पवित्र होने के कारण जैन लेखकों ने श्रद्धाभिभूत होकर प्राचीनकाल से ही इस प्रदेश का इतिहास लिखते रहने का प्रयत्न किया है। धर्म, दर्शन, अध्यात्म, राजनीति, अर्थनीति, व्यापार-उद्योग-धन्धे, भूगोल, लोकजीवन, सामाजिक रीति-रिवाज, रहन-सहन, लेखन एवं चित्रकला, मनोरंजन के साधन आदि विषयों को उन्होंने सरस शैली में प्रस्तुत किया है। जैनसाहित्य में मगध एवं विदेह का वर्णन तो प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। यदि उसे जैन साहित्य से निकाल दिया जाय, तो वह श्रीविहीन एवं अपूर्ण जैसा रह जायेगा।

प्राकृत एवं संस्कृत के जैन-साहित्य में पाटलिपुत्र की स्थापना तथा तद्विषयक अन्य अनेक विषयों की चर्चाएँ मिलती हैं। उसमें पाटलिपुत्र के पाटल, पाटली, पाटलिग्राम, पाटलिपुर, पाटलिनगर, कुसुमपुर, पुष्पपुर एवं पुष्पभद्र आदि नाम मिलते हैं। ये सभी नाम पुष्पवाची होने के कारण स्पष्ट विदित होता है कि यह स्थली प्रकृति का एक मनोरम प्रांगण था, जहाँ सर्वत्र अनुपम सौन्दर्य बिखरा रहता था।

अर्धमागधी प्राकृत[2] एवं अन्य जैन ग्रन्थों के अनुसार[3] सम्राट् श्रेणिक (बिम्बसार) के स्वर्गवास के बाद उनका पुत्र कुणिक (अजातशत्रु) पितृशोक में विह्वल होकर राजगद्दी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छोड़कर चम्पापुरी में निवास करने लगा। जब कुणिक की भी मृत्यु हो गई, तब उसके पुत्र उदायी को भी पितृशोक ने अशान्त बना दिया। वह जब-जब अपने पिता द्वारा निर्मापित सभा-भवन आदि देखता था; तब-तब वह रोने लगता था। यह स्थिति देखकर अमात्यों ने विचार-विमर्श करके उदायी को स्थान-परिवर्तन की सलाह दी, जिसे उसने स्वीकार कर उसने अपने नैमित्तिकों को नवीन-नगर निर्माण हेतु उपयुक्त स्थान खोजने के लिए भेजा।

नैमित्तिक लोग खोजते हुए गंगातट पर आये तथा वहाँ के गुलाबी पाटलि-पुष्पों की अधिकता तथा उनकी सुगन्धि से मोहित होकर वहीं रुक गए। उन्होंने पार्श्ववर्ती एक पाटलिवृक्ष की शाखा पर चाष नामक एक पक्षी को मुँह खोलकर बैठे हुए देखा। उड़ते हुए कीट-पतंग स्वतः ही उसके मुख में आ-आकर प्रविष्ट होते जा रहे थे। यह देखकर नैमित्तकों ने उस स्थल के भविष्यफल पर विचार किया और निष्कर्ष निकाला कि जिसप्रकार 'चाष' पक्षी के मुख में अनेकानेक कीड़े स्वतः प्रविष्ट होते रहे हैं, उसीप्रकार इस स्थल पर भी नगर-निर्माण के बाद उसके राजा के यहाँ लक्ष्मी स्वयमेव आती रहेगी।'' इसप्रकार नैमित्तकों की सलाह से उदायी ने गंगातट के उसी स्थल पर 'पाटलिपुत्र' की स्थापना की।

'आवश्यकसूत्र' (पृ० 689) के अनुसार उक्त राजा उदायी जैनधर्मानुयायी था। उसने अपनी नवीन राजधानी पाटलिपुत्र में एक सुन्दर जैन चैत्यालय का निर्माण करवाया था।[4] उसके राज्यकाल में जैनसाधु स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण किया करते थे। उदायी जैन होने के नाते मासिक पर्वों एवं उत्सवों के समय नियमतः प्रोषध आदि व्रत किया करता और साधुओं को आहार आदि का दान किया करता था। उसी क्रम में एक बार अवसर पाकर आहार लेने के बहाने एक ईर्ष्यालु राजकुमार ने साधुवेश में उसके राजमहल में जाकर उसकी हत्या कर डाली।[5] मृत्यु के समय उसका कोई भी उत्तराधिकारी न था।

जैनपरम्परा के अनुसार उत्तराधिकारी के निर्वाचन हेतु पाँच प्रकार के राजकीय चिन्ह—हाथी, घोड़ा, छत्र, कलश एवं चँवर अभिमन्त्रित कर छोड़े गए और उन्होंने 'नन्द' नामक एक युवक का निर्वाचन किया। नियमानुसार उसी को मगध का सम्राट् बनाया गया।[6] यह घटना महावीर निर्वाण के 60 वर्ष बाद (467 ई०पू०) की है।[7] इन नन्द राजाओं ने लगभग 94 वर्षों तक राज्य किया।[8] अन्तिम नन्दनरेश से अपमानित होने के कारण चाणक्य-ब्राह्मण ने उसका समूल नाशकर मौर्यवंशी चन्द्रगुप्त (प्रथम) को मगध-सम्राट् बनाया। यह घटना महावीर-निर्वाण के 155 वर्ष बाद की है।[9]

उक्त नन्द नापित-गणिका का पुत्र था।[10] 'मत्स्यपुराण' में भी उसे 'शूद्रापुत्र' कहा गया है और बतलाया गया है कि उसने क्षत्रिय राजाओं को मारकर 88 वर्षों तक तथा उसके सुकाल्य आदि आठ पुत्रों ने 12 वर्षों तक राज्य किया था। इस प्रकार इन 9 नन्दों का राज्य कुल मिलाकर 100 वर्षों तक चला। तत्पश्चात् कौटिल्य ने उनके राज्य को नष्टकर मौर्यवंश के चन्द्रगुप्त (प्रथम) को गद्दी पर बैठाया।[11] उक्त दोनों तथ्यों का अध्ययनकर डॉ० प्रधान ने निष्कर्ष निकाला है कि— **This agrees fairly wel with the Puranic**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

tradition that the Nandas ruled for about a hundred years. The Puranas probably borrowed the information from the ancient Jaina sources.[12]

हाथीगुम्फा शिलालेख से विदित होता है कि खारबेल ने मगध पर आक्रमण करके वहाँ से वह कलिंग-जिन (तीर्थंकर ऋषभ) की मूर्ति को वापिस ले गया था।[13] इस प्रसंग में मेरा अनुमान है कि उक्त शिलालेख में जिसे "कलिंग-जिन" कहा गया है, वह मूर्ति पूर्व में "मगधजिन" के रूप में प्रतिष्ठित रही होगी। क्योंकि नन्दराजाओं के पहले भी जैनमूर्तियों का निर्माण होने लगा था। किसी प्रकार कलिंग में ले जाए जाने पर वह कलिंग-जिन के नाम से प्रसिद्ध हुई होगी। अन्ततः कलिंग में जाने के बाद उस ऐतिहासिक मूर्त्ति का क्या हुआ, इसकी जानकारी नहीं मिलती।

पाटलिपुत्र के लोहानीपुर नामक मुहल्ले में खुदाई करते समय कायोत्सर्ग-मुद्रा की जो जैनमूर्ति मिली है,[14] उसे देखकर ज्ञात होता है कि प्रथम बार में "मगध जिन" के कलिंग में ले जाए जाने के तत्काल बाद ही सम्भवतः रिक्तता को पूर्ण करने हेतु उसकी प्रतिकृति बनाकर उसे पाटलिपुत्र के एक नवनिर्मित जैनमन्दिर में प्रतिष्ठित किया गया होगा, जो पश्चाद्वर्ती कालों में किन्हीं कारणों से नष्ट-भ्रष्ट हो गयी होगी और उक्त उत्खनन में वही खण्डित जिनमूर्त्ति उपलब्ध हुई है। जो वर्तमान में पटना म्यूजियम में सुरक्षित हैं।

डॉ. के.पी. जायसवाल, विंसेण्टस्मिथ, चारपेंटियर तथा डॉ. नीलकण्ठ शास्त्री ने नन्दों को जैनधर्मानुयायी मानते हुए निम्न तर्क दिए हैं–

1. कलिंग-विजय के समय नन्दनरेश कलिंगजिन को एक "विजय-चिन्ह" के रूप में मगध में लाए तथा उसे खारबेल के आक्रमण के समय तक लगभग 300 वर्षों तक सादर सुरक्षित रखे रहे।[15]

2. अन्तिम नन्दनरेश का प्रधानमन्त्री शकटाल जैन था। उसकी मृत्यु के बाद नन्द ने उसके पुत्र स्थूलिभद्र को मन्त्री बनाना चाहा, किन्तु उसके द्वारा अस्वीकार किए जाने के कारण उसके कनिष्ठ पुत्र श्रीयक को उसने मन्त्रीपद प्रदान किया। ई० पूर्व के नन्द नरेशों के मन्त्री भी जैन ही थे, जिनमें कल्पक प्रथम मन्त्री था, जिसकी सहायता से नन्द ने क्षत्रिय राजाओं को उखाड़ फेंका था।[16] मुद्राराक्षस[17] नाटक से भी इस तथ्य का समर्थन होता है।

नन्दों ने अपने पराक्रम से पूर्व में कलिंग तक तथा दक्षिण में गोदावरी तक मगध साम्राज्य का विस्तार किया। इसप्रकार मगध की शक्ति की वहाँ ध्वजा फहराई अवश्य, फिर भी वैदिक-धर्म की उपेक्षा करने के कारण उन्हें भारतीय इतिहास में प्रतिष्ठा नहीं मिल सकी।[18]

मौर्य चन्द्रगुप्त (प्रथम)–

मौर्य चन्द्रगुप्त की चर्चा तिलोयपण्णति, भगवती आराधना, आवश्यकसूत्र, बृहत्कथा-कोष, श्रवणबेलगोल के शिलालेखों, परिशिष्ट-पर्व एवं चाणक्य-चन्द्रगुप्त-कथानक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(रइधूकृत) में मिलती है। 'तिलोयपण्णत्ति' के अनुसार मुकुटधारी राजाओं में अन्तिम राजा चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रथम) ही था, जिसने जैनदीक्षा धारण की। उसके बाद कोई भी मुकुटधारी राजा दीक्षित नहीं हुआ।[19] केवलज्ञानियों एवं श्रुतकेवली आचार्यों के क्रम में चन्द्रगुप्त का उल्लेख स्वयं अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। इस उल्लेख से यह सन्देह नहीं रहता कि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु एवं चन्द्रगुप्त (प्रथम) समकालीन हैं। भद्रबाहु (प्रथम) का काल ई०पू० 380 से ई०पू० 369 माना गया है।

जैनसाहित्य[20] एवं शिलालेखीय प्रमाणों से यह सिद्ध है कि वह अपने अन्त समय में जैनधर्मानुयायी हो गया था तथा आचार्य भद्रबाहु (प्रथम) से जैनदीक्षा लेकर उनके साथ ही श्रवणबेलगोल चला गया था[21]। उसके जैनधर्मानुयायी होने के विषय में सुप्रसिद्ध इतिहासकार राईस डेविड्स् के ये विचार ध्यातव्य हैं[22]—"चूँकि चन्द्रगुप्त जैनधर्मानुयायी हो गया था, इसी कारण जैनेतरों द्वारा वह अगली 10 शताब्दियों तक इतिहास में उपेक्षित ही बना रहा।''[23] टॉमस ने तो यहाँ तक लिखा है कि "मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त (प्रथम) जैन समाज के महापुरुष थे। जैन-साहित्यकारों ने चन्द्रगुप्तविषयक कथानक एक स्वयं सिद्ध और सर्वविदित तथ्य के रूप में लिखा है। इसके लिए उन्हें किसी भी प्रकार के अनुमान प्रमाण को प्रस्तुत करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं हुआ। इस विषय में अभिलेखीय प्रमाण अत्यन्त प्राचीन एवं असंदिग्ध हैं। मेगास्थनीज के विवरणों से भी यह ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त ने ब्राह्मणों के सिद्धान्तों के विरोध में श्रमणों (जैनों) के उपदेशों को स्वीकार किया था[24]।'' डॉ० जायसवाल[25] एवं स्मिथ[26] ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं।

चन्द्रगुप्त के दीक्षित हो जाने के बाद उसका पुत्र बिन्दुसार मगध की गद्दी पर बैठा। बिन्दुसार के विषय में जैनसाहित्य में अधिक सामग्री नहीं मिलती। एक ही संकेत मिलता है कि उसने अपने पिता के समान ही राज्य-सीमा बढ़ाकर पुन्नाट-देश के उस हिस्से (श्रवणबेलगोल) को अपने अधिकार में लेने का प्रयत्न किया था, जहाँ उसका पिता (चन्द्रगुप्त) समाधिस्थ हुआ था। इससे उसके जैन होने का अनुमान किया जा सकता है।[27]

बिन्दुसार के बाद उसका पुत्र अशोकश्री मगध का उत्तराधिकारी हुआ। उसके नाम का उल्लेख तो जैनसाहित्य में मिलता है, किन्तु उसके जैनधर्मानुयायी होने का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। अशोकश्री के बाद उसके पुत्र नकुल[28] की इच्छा से अशोक ने उसके पुत्र तथा अपने पौत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय अथवा सम्प्रति चन्द्रगुप्त को उत्तराधिकारी बनाया। वह जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित था। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार उसने समस्त जम्बूद्वीप में विशाल जैन-मन्दिरों का निर्माण कराया था।[29] उसने आचार्य सुहस्ति की प्रेरणा से उज्जयिनी में एक विशाल जैनमहोत्सव का भी आयोजन किया था[30]। सम्प्रति चन्द्रगुप्त के बाद मौर्यवंश के अन्य किसी राजा का उल्लेख जैनसाहित्य में नहीं मिलता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाटलिपुत्र के जैनाचार्य–

भद्रबाहु–जैनसाहित्य में पाटलिपुत्र के अनेक जैनाचार्यों के उल्लेख भी मिलते हैं। इनमें सर्वप्रथम आचार्य भद्रबाहु (प्रथम) हैं, जो मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त (प्रथम) के गुरु थे तथा जिनकी चर्चा पूर्व में हो चुकी है। आचार्य रामचन्द्र मुमुक्षु ने इनका विस्तृत परिचय लिखा है।[31] श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में भी इनका उल्लेख मिलता है।[32] मगध के भयानक द्वादशवर्षीय दुष्काल में इन्होंने 12000 साधुओं के साथ दक्षिण भारत की यात्रा की थी। उसी समय दीक्षित होकर चन्द्रगुप्त भी इनके साथ गए थे।[33]

चाणक्य—आचार्य हरिषेण के अनुसार (बृहत् कथाकोष, 831 ई०) चाणक्य पाटलिपुत्र का निवासी था। उसके माता-पिता का नाम क्रमश: देवला एवं कपिल ब्राह्मण था। वह वेद-वेदांग में पारंगत था। चाणक्य की बुआ बन्धुमति का विवाह नन्दनरेश के कावी नामक मन्त्री के साथ हुआ था। नन्दनरेश द्वारा अपमानित होकर उसने चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रथम) के सहयोग से नन्दवंश को समूल नष्ट कर दिया और चन्द्रगुप्त को उसने मगध का सम्राट् बनाया। तत्पश्चात् चाणक्य ने जैनदीक्षा ले ली तथा अपने 500 शिष्यों के साथ गतियोग (पैदल) से दक्षिणापथ के वनवासी देश में पहुँचा। वहाँ से विहार करता हुआ वह पश्चिम दिशा में महाक्रौञ्चपुर के एक गोकुल में पहुँचा। पूर्व समय के कुछ ईर्ष्यालुओं ने उसके चारों ओर भयंकर अग्नि जला दी, जिसमें वह अपने सभी शिष्यों के साथ मृत्यु को प्राप्त हुआ।

स्थूलिभद्र—मगध के नरेश के मन्त्री शकट का यह ज्येष्ठ पुत्र था। मगध के द्वादशवर्षीय भीषण दुष्काल में ये पाटलिपुत्र ही थे। जैनदीक्षा लेने के पूर्व इनका मगधसुन्दरी कोशा गणिका के साथ सघन प्रेम-व्यापार चलता रहा। किन्तु शीघ्र ही संसार की असारता का अनुभव कर उन्होंने जैनदीक्षा ग्रहण कर ली। इनके दीक्षागुरु ने उनके ब्रह्मचर्य की परीक्षा लेने के लिए वर्षावास के समय इन्हें कोशा की चित्रशाला में रुकने का आदेश दिया। स्थूलिभद्र ने अपनी कठोर तपस्या एवं दृढ़ ब्रह्मचर्य से कोशा गणिका को इतना प्रभावित किया कि वह भी श्राविका, साध्वी बन गई। गुलजारबाग (पटना) स्टेशन के समीप स्थूलिभद्र का प्राचीन स्मारक आज भी उनके जीवन्त व्यक्तित्व का स्मरण करता रहता है।

उमास्वातिवाचक—उमास्वातिवाचक ने 500 संस्कृत-प्रकरणों की रचना की थी। इन्होंने पाटलिपुत्र में बैठकर तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की रचना की थी। जैनधर्म में इस ग्रन्थ का वही महत्त्व है, जो जैनेतरों में गीता, बाइबिल, कुरान-शरीफ, अथवा गुरुग्रन्थ साहब का है। उक्त ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी गई विस्तृत टीका है।[34]

आचार्य समन्तभद्र—आचार्य समन्तभद्र उरगपुर (दक्षिण भारत) के नागवंशी चोल-नरेश कीलिकवर्मन के पुत्र थे। उन्होंने जैनदीक्षा लेकर जैनदर्शन का गहन अध्ययन किया था। समन्तभद्र मगध की संगोष्ठियों एवं शास्त्रार्थ परिषदों से अत्यन्त प्रभावित थे। वे स्वयं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शास्त्रार्थियों को भेरी बजा-बजाकर चुनौतियाँ देते थे। पाटलिपुत्र में आकर भी उन्होंने भेरी बजाकर शास्त्रार्थियों को चुनौती दी थी और शास्त्रार्थ किया था। पाटलिपुत्र के बाद वे शास्त्रार्थ करने के लिए मालवा, सिन्धु, पंजाब, काञ्चीपुर एवं विदिशा गए थे।[35]

भारतीय वाङ्मय में समन्तभद्र ही प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने भगवान् महावीर की पुण्यभूमि बिहार एवं पाटलिपुत्र की मिट्टी की सुगन्ध से प्रभावित होकर भारतीय राजनीति में सर्वोदय[36] एवं समन्वय की आवश्यकता का अनुभव किया तथा अपने काव्य में सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग किया, जिसे महात्मा गाँधी, विनोबा एवं जयप्रकाश नारायण ने अपने विचारों में उतारने का अथक प्रयत्न किया। इन आचार्य का काल दूसरी सदी ईस्वी माना गया है।

उच्च ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीकी विद्या का आदर्श-केन्द्र-पाटलिपुत्र—जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि जैनाचार्यों ने पाटलिपुत्र के विविध पक्षों को पूर्णरूप से उजागर कर उसको विश्व के सर्वश्रेष्ठ, सुन्दर, पूर्णविकसित, सुसंस्कृत एवं समृद्ध नगर के रूप में चित्रित करने का सफल प्रयत्न किया है। उसे उच्चशिक्षा के प्रधान केन्द्र[37] के रूप में वर्णित करते हुए बताया गया है कि वहाँ 18 प्रकार की विद्याओं, स्मृतियों एवं पुराणों तथा 72 प्रकार की कलाओं की शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध था। वह भरत, वात्स्यायन एवं चाणक्य रूप रत्नत्रयी के लक्षणग्रन्थों, यन्त्र, तन्त्र एवं मन्त्र विद्याओं और रसायन-विद्या (Chemistry), धातु-विद्या (Metallurgy), निधिविद्या (Mints), अंजनगुटिका, पाद-प्रलेप, रत्नपरीक्षा, वास्तुविद्या-पुरुष-स्त्री-गज-अश्व वृषभादि सम्बन्धी लक्षण-विद्या, एवं इन्द्रजाल आदि ग्रन्थों के ज्ञाता तथा काव्य-रचना में निपुणता रखनेवाले प्रातः स्मरणीय विद्वान् पुरुष वहाँ निवास करते थे।[38]

शय्यंभव[39], सुत्थिय[40], महागिरि[41], सुहत्थि[42] एवं पलित्तय[43] जैसे महामति आचार्य पाटलिपुत्र में रहकर ज्ञानप्रसार करते रहे। दशपुर के आर्यरक्षित मुनिदीक्षा लेने के पूर्व यहाँ 14 विद्याओं का अध्ययन करने हेतु आए थे।[44] नौवें नन्द के राज्यकाल में यहाँ कण्ठ-परम्परा से आगत आगमों के संकलन के लिए प्रथम संगोष्ठी हुई थी, जो पाटलिपुत्र-वाचना के नाम से प्रसिद्ध है।[45] विद्वानों को आत्मसन्तोष के लिए यहाँ 84 वाद (शास्त्रार्थ)-शालाएँ स्थापित की गई थी।[46] कामक्रीड़ा की शिक्षा का भी पाटलिपुत्र को प्रमुख केन्द्र माना जाता था।[47]

वास्तु-विद्या के क्षेत्र में—आचार्य जिनप्रभसूरि ने पाटलिपुत्र की स्थापना का वर्णन करते हुए बतलाया है कि उस नवीन नगर को सुन्दर बनाने हेतु राजा उदायी ने वहाँ सुन्दर एवं विशाल गजशाला, रथशाला, राजप्रासाद, सौध, प्राकार, गोपुर, शस्त्रागार, पायशाला एवं प्रौषधशाला का निर्माण कराया। नगर के मध्य में उसने नेमिनाथ तीर्थंकर का एक सुन्दर चैत्य भी बनवाया था।[48] बहुत सम्भव है कि लोहानीपुर (पटना) के उत्खनन में जो मन्दिर एवं मूर्त्ति के भग्नावशेष मिले हैं, वे उदायी द्वारा ही निर्मित हों?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्नत व्यापार के क्षेत्र में—पाटलिपुत्र अपनी सुदृढ़ एवं केन्द्रवर्ती स्थिति के कारण पूर्वी, पश्चिमी एवं उत्तरी भारत के लिए प्रवेशद्वार के समान था। गंगातट पर बसे रहने के कारण जलीय मार्ग का वह प्रमुख व्यापारिक केन्द्र बन गया था। चम्पा, वाराणसी एवं कौशाम्बी जैसे औद्योगिक एवं व्यापारिक प्रसिद्ध नगरों से पाटलिपुत्र का घनिष्ठ सम्बन्ध था।[49]

वह उत्तरापथ के स्थलीय मार्ग का भी प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। यहाँ की उत्पादित सामग्री सुवर्णभूमि (बर्मा) ले जाई जाती थी।[50] पाटलिपुत्र, राजगृही एवं उसके आस-पास के प्रदेशों में रत्नकम्बल का भी व्यापार होता था।[51]

विनिमय का साधन—पाटलिपुत्र में आदान-प्रदान के लिए चाँदी के सिक्के का प्रचलन था, जो पाटलिपुत्रक[52] अथवा कुसुमपुरक के नाम से प्रसिद्ध था। यह सिक्का उत्तरापथ में प्रचलित दो स्थावरक[53] अथवा दिविच्चग के बराबर तथा काँचीपुरी के 2 नेलक[54] (सिक्के) के बराबर होता था। सिक्के का मूल्य देखकर विदित होता है कि उत्तर तथा दक्षिण भारत में पाटलिपुत्रक की अच्छी साख थी।

पाटलिपुत्र के निवासियों की सुन्दरता एवं सौन्दर्य-प्रेम—पाटलिपुत्र के निवासियों को मथुरा के लोगों से भी अधिक सुन्दर माना गया है। वे स्वभावत: प्रकृति-प्रेमी एवं सौन्दर्य- प्रेमी थे। वे सुन्दर भवनों में रहते थे। अपने भवनों के चारों ओर सुन्दर वाटिकाएँ लगाते थे और कक्षों में सुन्दर चित्र एवं मूर्त्तियाँ सजाते थे। उनकी पोशाकें आकर्षक होती थीं। पोशाकों का अन्तर्राष्ट्रिय व्यापार भी होता था।[55]

जनसंख्या की उत्पादन-दर—पाटलिपुत्र की बढ़ती हुई जनसंख्या के विषय में एक मनोरंजक उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार वहाँ प्रतिदिन इतने बच्चों का जन्म एवं मुण्डन होता था कि उनके केशों से पाटलिपुत्र को चारों ओर से वेढ़ा जा सकता था।[56]

पाटलिपुत्र के श्रेष्ठियों की समृद्धि—पाटलिपुत्र में प्राय: सभी लोग समृद्ध थे। दो सहस्रयोजन की यात्रा में हाथी के जितने पैर पड़ें, उनमें से प्रत्येक के पैर के गड्ढे को 1-1 सहस्र स्वर्णमुद्रा से पाटलिपुत्र का कोई भी व्यक्ति भर सकता था।[57] एक आढ़क तिलों के बोए जाने पर उनमें जितने तिल फल सकें, उतनी स्वर्ण मुद्राएँ वहाँ के धनिकों के घरों में सामान्यरूप से वर्तमान रहती थी।[58] घी एवं मक्खन तो पाटलिपुत्र में इतना अधिक होता था कि उससे किसी भी वेगवती पहाड़ी नदी को रोकने के लिए बाँध बनाया जा सकता था।[59] वहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के धन-धान्य उत्पन्न होते थे। गर्दमिक नामक एक ऐसी धान उत्पन्न होती थी, जो बार-बार लुनते-खोंटते रहने पर भी वह अपने आप बार-बार उत्पन्न होकर धान देने लगती थी।[60] पाटलिपुत्र के 5 स्तूपों में नन्द राजाओं की 99 कोटि स्वर्णमुद्राएँ सुरक्षित हैं। लक्षणावती के सुलतान ने उन्हें प्राप्त करने का अथक प्रयत्न किया, किन्तु वह असफल रहा।[61]

इसप्रकार जैनसाहित्य में उपलब्ध मगध एवं पाटलिपुत्र-सम्बन्धी विविध विषयक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सन्दर्भों के विषय में यहाँ संक्षिप्त चर्चा की। ये सन्दर्भ अन्तिम नहीं है। अत्यल्प हैं एवं नमूनास्वरूप ही यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं। इनके अतिरिक्त अन्य जैनग्रन्थों, शिलालेखों एवं ग्रन्थ-प्रशस्तियों में भी वे उपलब्ध हैं; किन्तु स्थानाभाव से यहाँ उनका उपयोग नहीं किया गया है। निष्कर्षरूप में इतना अवश्य ही माना जा सकता है कि प्राचीन बिहार का सर्वांगीण प्रामाणिक अध्ययन प्राकृत एवं संस्कृत के जैन-साहित्य के बिना सम्भव नहीं हो सकता। इस विषय में मैं प्राचीन भारतीय एवं एशियाई संस्कृति के ख्यातिलब्ध विद्वान् प्रो० डॉ० उपेन्द्र ठाकुर (मगध वि०वि०) के निम्न कथन[62] के साथ अपना यह शोधनिबन्ध समाप्त करता हूँ—

"While Literary (Mainly Sanskrit & Pali) and archaeological sources have been fully exploited in re-Constituting the history of Ancient India by historians, the latter have been indifferent towards the Jaina sources which Constitute a veritable mine of informations and offer a vast field of research into various facets of our early history and Culture. In fact, a Comprehensive and authentic history of early India can be possible only when a scientific and analytical study of these sources is objectively attempted. For long such a study remained neglected, but of late scholars have taken up this challenge which is now gradually yeilding fascinating results enriching various branches of Indological studies."

सन्दर्भानुक्रमणिका

1. पाटलिपुत्र महोत्सव के अवसर पर पटना म्यूजियम पटना द्वारा दिनांक 20-21 नवम्बर, 1985 को आयोजित सेमिनार – Pataliputra through the ages में पठित एवं चर्चित शोध-निबन्ध।
2. आवश्यक सूत्र पृ० 687।
3. त्रिषष्ठि (हेम०) 10/426।
4. नगर नाभौ चोरायिन्ता चैत्यगृहं करितं.........।
5. आवश्यक सूत्र पृ० 690/परिशिष्ट पर्व 6/208-9।
6. आ.सू.पृ. 242/परिशिष्ट पर्व 6/242.
7. परिशिष्ट 6/243
8. परिशिष्ट 8/3 8
9. परिशिष्ट 8/339
10. आवश्यक पृ. 690, परिशिष्ट 6/231-232
11. मत्स्यपुराण 272/17-21
12. C.J. Shah—Jainism in N. India P. 124
13. हाथीगुम्फा शिलालेख, पं. सं..............
14. Studies in Jain Art (U.P. Shah) Plate 1 Fig. 2
15. C.J. Shah—Jainism in N. India, page 128-129.
16. वही

17-18. वही पृ. 130

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

19. मउडधरेसुं चरिमो जिणदिक्खं धरिदं चंदगुत्तो य।
ततो मउडधरा दुप्पवज्जं णेव गेण्हंति।। —तिलोय 4/1481
20. दे. वृहत्कयाकोष (हरिषेण) 'चन्द्रगुप्तकथानकम्'।
21. शिलालेख संग्रह (प्र०भा०डॉ०ही०ला० जैन)।
22. दे० बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 164।
23. दे० बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 164।
24. दे० C.J. Shah—Jainism in N. India, Page 137.
25. J.B.ORS III P. 452.
26. Early History of India, P. 154.
27. C.J. Shah—Jainism in N. India, P. 139.
28. रइधु कृत 'चाणक्य-चन्द्रगुप्त कथानक' 9/12।
29. कल्पसूत्र-सुखबोधा टीका—सूत्र 6 पृ० 163 तथा Smith–Early Hist of India, P. 202.
30. वही।
31. दे० पुण्याश्रव कथा कोष में वर्णित भद्रबाहु कथानकम्
32. शिलालेख संग्रह प्र. भा.
33. पुण्याश्रवकथाकोष भद्र० कथा०
34. विविधतीर्थकल्प पृ० 156।
35. विद्वद्रत्नमाला—पृ० 166।
36. युक्त्यनुशासन—श्लोक 32।
37. सुयगडंग चूर्णि—पृ० 139, 141।
38. विविधतीर्थकल्प।
39. उत्तराध्ययन सूत्र टीका, पृ० 105।
40. निशीथचूर्णि तृ, खं, पृ० 423।
41-42 आचारांग निर्युक्ति 1274।
43. आचारांग चूर्णि—1/554
44. आचारांग चूर्णि, 1/401।
45. प्रा. सा. इति०।
46. विविधतीर्थकल्प।
47. सूत्रकृतांग वृत्ति शीलांक, पृ० 111।
48. विविधतीर्थकल्प।
49. निशीथसूत्र तृ खं, गाथा 4210।
50. Dr. D.C. Jain—Economic Life in Ancient India as depicted in Jain Canonical Literature, P. 70.
51. विविधतीर्थकल्प।
52. Economic Life in Ancient India (Jain), P. 97.
53-54. Economic Life in Ancient India (Jain), P. 97.
55. आचारांग वृत्ति (शीलांक), पृ० 97।
56-61. विविधतीर्थकल्प।
62. डॉ० राजाराम जैन द्वारा सम्पादित महाकवि रइधू कृत 'भद्रबाहु-चाणक्य-चन्द्रगुप्त-कथानक' एवं राजा कल्कि वर्णन के Foreward से उद्धृत, पृ०सं० 7।

**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शंखध्वनि एवं सिंहनाद : एक अनुशीलन

—*हरिचरण वर्मा*

'ध्वनि' एवं 'नाद' का मनुष्यों पर ही नहीं; अपितु अन्य जीव-जन्तुओं, यहाँ तक कि वनस्पतियों पर भी व्यापक प्रभाव पड़ता है। मंगलवाद्य[1] का नाद हर्षवृद्धि करता है, तो शोकध्वनिवाले वाद्य बजने पर मन अवसाद से भर जाता है। प्राय: समस्त संसारी जीव-मनुष्यों से वनस्पतियों तक इसका अनुभवकर हर्ष या विषाद का वेदन करते हैं। हर्षदायक नाद के द्वारा मन प्रसन्न होने से उनकी अभिवृद्धि अच्छी गति से होती है, तो खेदोत्पादक नाद से उनका विकास प्राय: रुक जाता है या अत्यन्त धीमी गति से होता है। इसीलिए धार्मिक, सामाजिक या पारिवारिक मंगलप्रसंगों पर शहनाई, तूर्य, नादस्वरम् आदि शुभवाद्य बनाये जाते हैं, ताकि समागत जनों का मन प्रसन्नता से भरा रहे और कोई विघ्न बाधा उपस्थित न हो, कोई विसंवाद नहीं उठे। तथा मरण आदि प्रसंगों पर शोकधुन बजाई जाती हैं, ताकि सुननेवाले आमोद-प्रमोद के प्रसंग छोड़कर अपने प्रियजन या पुरजन के अवसान को जानकर उसके परिजनों के दु:ख में सहभागित्व प्रकट कर सकें। —यह भारतीय परम्परा की एक अतिप्राचीनकाल से प्रचलित वैज्ञानिक विधि है।

'नाद' के प्रभाव के बारे में मनीषियों ने लिखा है—

"द्राक्षा-पानक-मोदकादि-रसवत्यास्वादबन्ध्या अपि,
स्वर्गस्था: क्षपयन्ति कालमखिलं यस्मिन्निलीना: सुखम्।
दत्ते यत्परमं पदं जिनपतिर्देवो यदाराधित:,
सत्पिण्डप्रभव: स कोऽपि विजयी नादो विशुद्ध: सताम्।।"[2]

अर्थ—विशुद्ध नाद का आश्चर्यजनक प्रभाव है। स्वर्ग के देवों को यद्यपि द्राक्षारस, मोदक आदि मधुररस-सम्पन्न स्वादिष्ट पदार्थ उपलब्ध नहीं होते हैं, तथापि वे इस नाद (संगीत) के मधुर आस्वादन से परितृप्त होकर अपने समय को सुखपूर्वक व्यतीत करते हैं। यह नाद परमपद देनेवाला है और इससे परमदेव जिनेश्वर की आराधना की जाती है। विशुद्धनाद का ऐसा उत्तम प्रभाव शुद्धसत्त्ववाले सज्जनों के पवित्र शरीर में उत्पन्न होता है। इस उत्तम नाद की विजय हो।

यद्यपि वाद्य अनेक हैं तथा उनके नाद भी विभिन्न प्रकार के प्रभावों को उत्पन्न करते हैं। वाद्यों के नाद के अनुसार तो स्वर्गों का वर्गीकरण भी शास्त्रों में उल्लिखित है। श्री नेमिचन्द्रदेव लिखते हैं—

"कल्पेषु घंटा भवनेषु शंखो, ज्योतिर्विमानेषु च सिंहनाद:।
दध्वान भेरी वनजालयेषु, यज्जन्मनि ख्यात जिन: स एष:।।"[3]

अर्थ—जिन तीर्थंकरों के जन्म होने पर कल्पवासी देवों के भवनों में घण्टानाद, भवनवासी देवों के भवनों में शंखध्वनि, ज्योतिष्क देवों के विमानों में सिंहनाद, और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यंतरदेवों के भवनों में भेरीनाद होने लगता है; ऐसे वे वृषभदेवादि जिनेन्द्रदेव संसार में सुप्रसिद्ध है।

आज भी जब हम जिनमन्दिर में प्रवेश करते हैं, तो 'घंटा' की ध्वनि करते हैं; जो कि पाप-परिणामों को दूरकर भक्तिभाव को बढ़ानेवाली होती है। इसीप्रकार 'शंखध्वनि' का भी भारतीय संस्कृति एवं चिन्तन परम्परा में अतिविशिष्ट महत्त्व स्वीकार किया गया है। 'शंख' शब्द का परिचय देते हुए 'शब्दकल्पद्रुमकार' कहते हैं कि—"शाम्यति अशुभमस्मादिति शंख:"[4] अर्थात् जिसके द्वारा (ध्वनि के द्वारा) अशुभभावों का उपशमन होता है, वह 'शंख' है। इसकी व्युत्पत्ति देते हुए वे लिखते हैं कि "शमे:ख:"[5] अर्थात् 'शम्' शब्द से 'ख' प्रत्यय होकर 'शंख' शब्द निष्पन्न होता है। यह सर्वविदित ही है कि 'शम' शब्द लोक में 'सुख-शान्ति' के लिए प्रसिद्ध है। —तदनुसार जिसकी ध्वनि 'ख' अर्थात् आकाश में शम्-निर्मलता उत्पन्न करे, वह 'शंख' है। प्रत्येक तीर्थंकर के शरीर पर पाये जाने वाले शुभलक्षणों में एक 'शंख' का चिह्न भी होता है। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का तो परिचय-चिह्न ही 'शंख' था।

शंख की ध्वनि के लिए कोशकारों ने अनेकों मंगल नाम दिये हैं, यथा—पावनध्वनि:, महानाद:, दीर्घनाद:, बहुनाद:, हरिप्रिय:[6] इत्यादि। भारतीय संस्कृति में विधान है कि धर्मसभा, कथा आदि को प्रारम्भ करने पर तथा इनकी समाप्ति पर 'जय' शब्द, 'नम:' शब्द का उच्चारण तथा शंखध्वनि करनी चाहिए—"जयशब्दं, नम:शब्दं, शंखशब्दं च कारयेत्।"[7]

'शंख' को वैदिक-परम्परा में 'कुबेर (धन देवता) की निधि-विशेष' माना गया है—"निधिप्रवरमुख्यौ शंखपद्मौ धनेश्वरौ।"[8] जबकि जैन-परम्परा में इसे चक्रवर्ती की नवनिधियों में से 'नवमनिधि' माना गया है—

"ये चक्रिण: स्युर्निधयो नवैषु, शंखाभिधानो नवमो निधिर्य:।
तूर्याणि वाद्यानि सनाटकानि, सर्वाणि तत्रैव समुद्भवन्ति।।"[9]

अर्थ—जो चक्रवर्ती सम्राट् होते हैं, उन्हें नवनिधियाँ प्राप्त होती हैं। इनमें नवम निधि का नाम 'शंख निधि' है। सम्पूर्ण तूर्य, वाद्य और नाटक आदि उसी में उत्पन्न होते हैं।

इस बात को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—

"इति जैनमते तूर्यत्रिकस्योत्पत्तिरिष्यते।"[10]

अर्थ—इसप्रकार जैनमत में 'शंख निधि' से उपरिवर्णित तूर्यत्रिक (तूर्य, वाद्य और नाटक) की उत्पत्ति मानी गयी है।

'प्रतिष्ठातिलक' में 'शंख' के नाद से शुभ लग्न में दशों दिशाओं में गुंजायमान करने को 'शुभ' माना है—

शंखादिवाद्यघोषेषु दिगंतरपूरितेषु शुभलग्ने....महाध्वजम्।[11]

शंखध्वनि का चिकित्साशास्त्रीय क्षेत्र में भी व्यापक महत्त्व स्वीकार किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'राजनिर्घण्टु'कार लिखते हैं–

"पुष्टि–वीर्य–बलप्रदत्वम्। कुल्म–शूल–कफ–श्वास–विषदोषनाशितत्वञ्च।"[12]

अर्थात् शंख की ध्वनि करने (शंख बजाने) से शरीर पुष्ट होता है, बल-वीर्य बढ़ता है तथा गुल्म, शूल, कफ, श्वास एवं विष आदि के दोष नष्ट होते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक शोधों में भी शंखध्वनि के द्वारा रोगोपचार की बात स्वीकार की गयी है। सन् 1928 में जर्मनी के बर्लिन विश्वविद्यालय में 'शंखध्वनि' पर एक लेख प्रकाशित हुआ था; उसमें यह बात प्रमुखता से छपी थी कि 'शंखध्वनि के द्वारा बिना औषधियों के भी अनेक प्रकार का प्रदूषण नष्ट करना मुमकिन है। प्रति सैकेंड 27 घनफुट शक्ति द्वारा शंखनिनाद से 2200 फुट तक क्षेत्र के ऐसे प्रदूषण को नष्ट किया जा सकता है। तथा 2500 फुट तक ऐसे प्रदूषण को निस्तेज किया जा सकता है। शंखध्वनि से मलेरिया रोग भी नष्ट हो जाता है तथा मिर्गी, मूर्च्छा एवं घेंघा आदि रोगों का निवारण भी इससे संभव है।'[13]

शंख को 'हरि का अधिष्ठान' माना गया है तथा इसे अनवरत लक्ष्मी (सम्पत्ति) की उपलब्धिकारक एवं अमंगल का निस्तारक माना गया है–

"शंखो हरेरधिष्ठानं यतः शंखस्ततो हरिः।
तत्रैव सततं लक्ष्मीर्द्दूरीभूतममंगलम्।।"[14]

'शंख' तीर्थंकर वृषभदेव के तृतीय पुत्र[15] का भी नाम था।

'शंख' के गुणों के कारण ही मनीषियों ने उसकी प्रशंसा की है, उत्पत्ति साधन की दृष्टि से समीक्षा नहीं की है – "गुणतः श्लाघ्यैते नोत्पत्तिर्गण्यते सद्भिः।"

शंखों में भी 'दक्षिणावर्त शंख' की बड़ी महिमा गायी गयी है, उसे विद्वानों ने राज्यश्री का निधान, अत्यन्त मंगलस्वरूप एवं वृद्धि करनेवाला माना है।[16]

शंखध्वनि के समान ही 'सिंहनाद'[17] का भी विशेष महत्त्व भारतीय परंपरा में माना गया है। प्रसिद्ध कन्नड़ कवि रत्नाकर लिखते हैं—

"सिंहं नास्ति भटाळि सिंहरवमं माडल्गजं बेर्चुगं।
सिंहाकारमनं किसल्नरर बेन्नोळ् हस्तिरोगं हरं।।
सिंहारूढने ! निम्म मंत्ररे भवच्छीबिंबदे पडिगेल्।
संहारंगळनेयुदुवे सकलवें रत्नाकराधीश्वरा।।"[18]

अर्थ:–हे रत्नाकराधीश्वर भगवान् महावीर ! योद्धाओं के सिंहनाद से विशालकाय हाथी भी भयभीत होकर प्राण बचाने के लिए तुरन्त भाग जाते हैं। इसीप्रकार यदि मनुष्य की पीठ पर हस्तिरोग की गांठ बन जाये, तो उस मनुष्य के ठीक सामने केसर से सिंह का चित्र बनाने से वह गाँठ तुरन्त नष्ट हो जाती है। अतः सिंह के लांछन (भगवान् महावीर का चिह्न सिंह है) से युक्त आपके चरणों के दर्शनमात्र से, हे भगवान् ! आपके नामाक्षररूपी मंत्र से और आपकी कायोत्सर्गरूपी मूर्ति से सभी बाधायें अवश्य नष्ट होंगी; और फिर अन्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधनों की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

वर्तमान में हस्तिरोग (गजगांठ) के बारे में प्रामाणिक उदाहरण से कुछ लोग परिचित हैं। बड़े आचार्य शांतिसागर जी की पीठ पर मेरुदण्ड के ऊपर हाथी के आकार की एक गांठ हुई, जिसकी असहनीय पीड़ा से वे छह माह तक पीड़ित रहे। किसी भी उपचार से कोई लाभ नहीं हुआ, तब मिरज स्टेट के राजवैद्य को दिखाया गया। उन्होंने आचार्यश्री के समक्ष केसर से सिंह की आकृति बनायी, तो वह गांठ पिघल गयी एवं पीड़ा समाप्त हो गयी।

सिंहनाद को उत्साह एवं पौरुष को स्फूर्त करनेवाला माना गया है। इन नादों के बारे में संगीतशास्त्र में व्यापक महत्त्व बताये गये हैं। इस विषय में व्यापक अनुसन्धान की अपेक्षा है।

—कार्यक्रम निदेशक (संगीत)
आकाशवाणी महानिदेशालय
आकाशवाणी भवन, नई दिल्ली-1

सन्दर्भ सूची—

1. "शंख-भेदी-निनादैश्च, पटहानां च निस्वनैः।
   वीणा-वेणु-मृदंगैश्च, झल्लरी स्वरमंगलैः।।"
2. संगीतोपनिषत्सारोद्धार, 2/2।
3. प्रतिष्ठातिलक, 9/3।
4. शब्दकल्पद्रुम, भाग 5, पृष्ठ 11।
5. वही, पृ० 11।
6. वही, पृ० 11।
7. भागवत माहात्म्य, 6/58।
8. महाभारत, 2/10/36।
9. संगीतोपनिषत्सारोद्धार, 2/3।
10. वही 2/4।
11. प्रतिष्ठातिलक, 5/10, पृ० 121।
12. द्र० शब्दकल्पद्रुम, भाग 5, पृ० 11-12।
13. द्र० हिन्दुस्तान दैनिक, दिल्ली संस्करण, 20 जनवरी '96 का अंक, पृष्ठ 7 पर। सुनीत भौमिक का लेख—'शंख बाजे-रोग भागे।'
14. द्र० शब्दकल्पद्रुम, भाग 5, पृ० 11-12।
15. द्र० अभिधान राजेन्द्र कोश, 'उसह प्रकरण', पृष्ठ 1129।
16. "खीरोवहि संभूयं विभूसणं सिरिणिहाण रायाणं।
   दाहिणवत्तं संखं बहुमंगलविलय-रिद्धिकरं।।"
   —*श्री ठक्कुरफेरू विरचित 'धातूत्पत्ति, 29, पृ० 55।*
17. द्रष्टव्य, गीता 1/38; स्वयंभूस्तोत्र, 7/38; सिद्धसेन बत्तीसी, 3/36; अश्वघोषकृत महाकाव्य 5/48; एवं प्रतिष्ठा तिलक, 9/3।
18. रत्नाकरकवि विरचित, पद्य 112, पृष्ठ 226।

**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सन्मतिसूत्र में एक विचारणीय पाठ

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर प्रणीत 'सन्मतिसूत्र' नामक प्रकरण ग्रन्थ में एक गाथासूत्र है— "भद्दं मिच्छादंसणसमूहमहयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवदो संविग्ग-सुहाहिगम्मस्स।। 3/70।।

इसमें प्रथम पंक्ति के द्वितीय चरण में आगत महयस्स पद के स्थान पर बहुत दीर्घावधि से एक पाठ प्रचलित रहा 'मइयस्स'। यद्यपि इस पाठ से कोई अर्थ-संगति भी नहीं बैठती थी, उल्टे विसंगति ही प्रस्तुत होती थी; तथापि किसी प्राचीन प्रति के प्रतिलिपिकार ने किंचित् असावधानीवश 'महयस्स' के 'ह' के स्थान पर 'इ' जैसी आकृति बन गयी, और उसी के आधार पर अन्य परवर्ती प्रतिलिपिकारों ने भी 'मइयस्स' पाठ रख दिया। प्रतिलिपिकारों को कोई विषयज्ञान या अर्थसंगति की अपेक्षा तो होती नहीं थी, अत: किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया और फलस्वरूप प्रतिलिपि-दर-प्रतिलिपि 'मइयस्स' पाठ चल पड़ा। जो परवर्ती व्याख्याकार हुए, उन्हें जो पाठ मिला, उसी के अनुसार उन्होंने येन-केन प्रकारेण इसकी व्याख्या करके संगति बिठाने के द्रविड़ प्राणायाम भी किये; किन्तु व्याख्यागौरव नहीं बन सका। आधुनिक विद्वानों में भी यह पाठ 'सन्मतिसूत्र' के विवादास्पद स्थल के रूप में दशकों से चर्चा एवं ऊहापोह का विषय बना रहा। आचार्यश्री विद्यानन्द जी ने भी इस पर विचार किया और उन्हें लगा कि इसकी जगह कुछ और पाठ होना चाहिए। अत: उन्होंने प्राचीन प्रतिलिपियों को मँगवाया एवं सूक्ष्मता से उनका अध्ययन किया। फलस्वरूप एक प्रति में उन्हें 'महयस्स' पाठ मिल गया। इसके मिलते ही अर्थ की सुसंगति भी बैठ गयी। स्वनामधन्य विद्वद्वर्य डॉ० नेमीचन्द्र, शास्त्री, आरा (बिहार) की जानकारी में जब यह नवीन शोध आयी, तो वे मानो प्रसन्नता से उछल पड़े और उन्होंने तत्काल पत्र लिखकर अपने हर्ष की अभिव्यक्ति की तथा इस महत्त्वपूर्ण शोध के लिए आचार्यश्री का आभार माना।

हाल ही में श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय विद्यापीठ, नई दिल्ली-16 में सम्पन्न द्वितीय आचार्य कुन्दकुन्द व्याख्यानमाला में मुख्य वक्ता विश्वविश्रुत विद्वान् प्रो० नथमल टाँटिया ने भी अपने वक्तव्य में तीन-चार बार इस शोध का उल्लेख करते हुए आचार्यश्री के प्रति समस्त विद्वज्जगत् की ओर से कृतज्ञता ज्ञापित की। प्राकृतविद्या के विज्ञ पाठकों के लिए इस पाठ के बारे में जानकारी हो, तथा लकीर पीटने की बजाय प्रामाणिक पाठों का अन्वेषण एवं संशोधन की प्रक्रिया को 'आगमों में फेरबदल' जैसे दिग्भ्रमित करने वाले फतवों से बचाया जा सके—एतन्निमित्त जागरण की दृष्टि से इस पाठ का तुलनात्मक विवरण निम्नानुसार प्रस्तुत है—

इस शोध के बिना प्रचलित पाठ के अनुसार प्रचलित अर्थ (?) –

मिथ्यामतवाले समूह/समुदाय वर्ग का विनाश करनेवाले, अमृतसाररूप मुमुक्षु को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुखपूर्वक समझ में आनेवाले भगवान् के जिनवचन का कल्याण हो।

प्रस्तुत पाठ के अनुसार उक्त गाथासूत्र का अन्वयार्थ—

(मिच्छादंसणसमूह-महयस्स) मिथ्यादर्शनों के समूह का मंथन करने वाले, (अमयसारस्स) अमृतसाररूप, (संविग्गसुहाहिगम्मस्स) तत्त्वज्ञ ज्ञानीजनों द्वारा सुखपूर्वक जाने गये—ऐसे (भगवओ) महत्त्वशाली भगवान् (जिणवयणस्स) तीर्थंकर सन्मति जिनेश्वर के वचनों से मुमुक्षुजगत् का (भद्दं) कल्याण हो।

समीक्षा—प्रचलित अर्थ के अनुसार 'मिथ्यादर्शनों के समूह का खण्डन करनेवाले' जिनवचन हैं—ऐसा संकीर्ण अर्थ किया गया। विचारणीय है कि यह जिनवचनों का विशेषण पद है। जिनवचन चूंकि अनेकान्तात्मक हैं, उनमें परस्पर विरोधी सभी धर्मों का कथन समाविष्ट होता है; अत: वे जिनवचन उन धर्मों के विरोधी या खण्डन करनेवाले कैसे हो सकते हैं? उनमें विरोध का बिन्दु तो उनकी एकान्तत: स्वीकृति है, इस सर्वथा एकान्तवाद का उपशमन कर स्याद्वादशैली के द्वारा जिनवचनों की प्रवृत्ति होती है; जो कि समस्त विरोधों का उपशमन कर सभी धर्मों में अविरोध की स्थापना करती है। उदाहरणस्वरूप 'नित्यत्व' और 'अनित्यत्व' दो परस्पर विरोधी धर्म हैं; उनके एकान्तपक्ष से नित्यैकान्तवादी सांख्य तथा अनित्यैकान्तवादी बौद्धमत प्रसक्त होते हैं। जिनवचन न तो नित्य पक्ष का खण्डन करते हैं और न ही अनित्यत्व का; वे तो दोनों में विरोध उपस्थित करनेवाले सर्वथा एकान्तवाद का विरोध करते हैं। क्योंकि यदि अनित्यत्व का विरोध करेंगे, तो वस्तु के पर्याय पक्ष को जलांजलि देना पड़ेगी तथा नित्यपक्ष का विरोध करने पर त्रिकाली वस्तु (द्रव्यपक्ष) को ही त्यागना पड़ेगा। दोनों ही स्थिति में 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' एवं 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' के सिद्धान्तों का विरोध प्रसक्त होगा। इसलिए जिनवचन विरोध के जनक सर्वथा एकान्तवाद का निराकरण कर परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों में अनेकान्तात्मक चिंतन एवं रूढ़िवादी कथनपद्धति से अविरोध स्थापित करते हैं।—यही जिनवचनों की महत्ता एवं विशेषता है। इस दृष्टि से 'अनेकमिथ्यादर्शनों के समूह का मथन करके अमृतसाररूप अनेकान्ततत्त्व की स्थापना करनेवाले जिनवचनों से मुमुक्षु जगत् का कल्याण हो —यही अर्थ सुसंगत बैठता है। इस बात के पोषक कतिपय प्रमाण निम्नानुसार हैं—

(i) "अनन्तधर्मेष्वपि सम्भवन्ती अर्हतां दिव्यध्वनि सप्तभंगीम्।"

—प्रतिष्ठातिलक 11/3 पृ० 564।

अर्थात् तीर्थंकर जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि भी सप्तभंगात्मक (परस्पर सापेक्ष) ही खिरती है, तभी वह परस्पर एक-दूसरे धर्म का समन्वय करती है।

(ii) "एगंतो एगणओ होदि अणेगंत तस्स सम्मूहो।
तं खलु णाणवियप्पं सम्मं मिच्छं च णादव्वं।।" *—नयचक्र, 180, पृ० 18।*

अर्थात् एक नय एकान्त कहलाता है, और उन्हीं एकान्तों का समूह अनेकान्त कहलाता है। उसे ज्ञान के विकल्प ('स्यात्' सहित या 'स्यात्' प्रयोग के बिना) से ही 'सम्यक्' या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'मिथ्या' जानना चाहिए।

(iii) "सन्मार्गस्त्रिविधः कुमार्गमथनोऽर्हन्वीरनाथः श्रिये।"

—युक्त्यनुशासनम्, 21।

अर्थात् महावीर स्वामी के द्वारा प्रवर्तित कुमार्गों का मथनपूर्वक प्राप्त सन्मार्ग तीन प्रकार का है।

(iv) "सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्।"

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 2।

अर्थात् सम्पूर्ण (परस्परविरोधी) विलसित होने वाले नयों के पारस्परिक विरोध को दूर करनेवाले अनेकान्त को नमस्कार करता हूँ।

इन सभी कथनों में अनेकान्तात्मक जिनवचन को विभिन्न कथनों या नयों के पारस्परिक विरोध का उपशमक बतलाया है, न कि उनका खण्डन करनेवाला। यही अनेकान्तदृष्टि या जिनवचनों की सहिष्णुता का सूचक वैशिष्ट्य है।

—सम्पादक

**

राजा का धर्म

'नृपतिः समयातिवर्तिनाम्।
प्रविनेता न हि लिंगमीक्षते।।'

—राघवीयम् 3/16

अर्थ—राजा का मुख्य धर्म प्रजाओं में समय (आचार, नियम, व्यवस्था, विधि आदि) का परिपालन करवाना है। यदि नियम का उल्लंघन होता हो तो वह पक्षपातरहित होकर दण्ड दें अपराधी स्त्री हो अथवा पुरुष—शासक उसके लिंग का विचार नहीं करते।

*

'ऋतुव्यपातोऽपि न यत्र शक्तः।
क्रमेत तत्रापि नृपापचारः।।'

—राघवीयम्, 2/16

अर्थ—शासक का पाप ऋतु-आगमन पर फलपुष्प प्रदान करने वाले वनस्पति जगत् पर भी अपना प्रभाव दिखाता है। महाभारतकार की 'राजा कालस्य कारणम्' (राजा अकाल और सुकाल का कारण है) यह उक्ति सत्य है।

उक्त विवेचन के अनुसार विवेकी राजा को राजधर्म का पालन करना 'असिधाराव्रत्त' के समान है और इसी कारण राजा को देश के न केवल राजनीतिक, अपितु प्राकृतिक परिस्थितियों का भी कारण माना जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[दि० 22 अप्रैल 1996 को आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज की 72वीं जन्म जयन्ती है। उसके शुभ उपलक्ष्य में उनके प्रति श्रद्धा से भरित कतिपय पद्यरचनायें यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं। –सं०]

विद्यानन्दशतक

–उपाध्याय कामकुमारनन्दि

आर्यवर्यं कलासिन्धुं नैकभाषा विशारदम्।
श्री विद्यानन्दमाचार्यं वन्दे विधाविनायकम्।। 1।।

अर्थः–जो आर्यवर्य हैं, कलासिन्धु हैं, अनेक भाषाओं के विशारद हैं; उन विद्याविनायक आचार्यश्री विद्यानन्द की मैं वन्दना करता हूँ।

विद्यामूर्तिं दयामूर्तिं ज्ञानमूर्तिं सुनायकम्।
विद्याकेन्द्रमहं वन्दे श्री विद्यानन्दमाचार्यम्।। 2।।

अर्थः–जो विद्यामूर्ति हैं, दयामूर्ति हैं, ज्ञानमूर्ति हैं, सुनायक हैं; उन विद्या के केन्द्र आचार्यश्री विद्यानन्द की मैं वन्दना करता हूँ।

धर्ममूर्तिं तपःपूत शान्तमूर्तिं सुबुद्धिदम्।
श्री विद्यानन्दमाचार्यं वन्दे ज्ञानसुधाकरम्।। 3।।

अर्थः–जो धर्ममूर्ति हैं, तपःपूत हैं, शान्तमूर्ति हैं, सुबुद्धि प्रदान करनेवाले हैं, ज्ञान के समुद्र हैं, उन आचार्यश्री विद्यानन्द की मैं वन्दना करता हूँ।

पूज्यमूर्तिं सदावन्द्यं सरस्वत्याः सुपुत्रकम्।
श्री विद्यानन्दमाचार्यं वन्दे वात्सल्यमूर्तिकम्।। 4।।

अर्थः–जो पूज्यमूर्ति हैं, सदैव वन्दनीय हैं, सरस्वती के सुपुत्र हैं और वात्सल्य की मूर्ति हैं; उन आचार्यश्री विद्यानन्द की मैं वन्दना करता हूँ।

पूज्यपादं वयोवृद्धं मुक्तिमार्गसुसाधकम्।
श्री विद्यानन्दमाचार्यं वन्दे स्वात्मसुशोभिनम्।। 5।।

अर्थः–जो पूज्यपाद हैं, वयोवृद्ध हैं, मुक्तिमार्ग के अच्छे साधक हैं और स्वात्मा से सुशोभित हैं; उन आचार्यश्री विद्यानन्द की मैं वन्दना करता हूँ।

ज्ञानगुरुं गुणागारं सद्धर्मामृतदेशकम्।
श्री विद्यानन्दमाचार्यं वन्दे तीर्थप्रभाकरम्।। 6।।

अर्थः–जो ज्ञानगुरु हैं, गुणों के भण्डार हैं, सद्धर्मरूपी अमृत का उपदेश देने वाले हैं, और तीर्थप्रभाकर हैं; उन आचार्यश्री विद्यानन्द की मैं वन्दना करता हूँ।

लोकपूज्यं महासाधुं शान्तसौधर्म्यशालिनम्।
श्री विद्यानन्दमाचार्यं वन्दे विज्ञाननायकम्।। 7।।

अर्थः–जो लोकपूज्य हैं, महासाधु हैं, शान्त और सौधर्म्यशाली हैं, और विज्ञाननायक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं; उन आचार्यश्री विद्यानन्द की मैं वन्दना करता हूँ।

धर्मानन्दं सुधर्माणं धर्मचक्रप्रवर्धकम्।
श्री विद्यानन्दमाचार्यं वन्दे गुरुप्रसादकम्।। 8।।

अर्थः—जो धर्मानन्द हैं, सुधर्मयुक्त हैं, धर्मचक्र के प्रवर्धक हैं और गुरुप्रसाद हैं; उन आचार्यश्री विद्यानन्द की मैं वन्दना करता हूँ।

संयमितमहं वन्दे विद्यामण्डनमण्डितम्।
श्री विद्यानन्दाचार्यं जैनाचार्य शिरोमणिम्।। 9।।

अर्थः—जो संयमी हैं, विद्यारूपी आभूषण से शोभायमान हैं और जैनाचार्यों के शिरोमणि हैं; उन आचार्यश्री विद्यानन्द की मैं वन्दना करता हूँ।

कषायरहितं पूतं सम्यक्त्वादिविभूषितम्।
श्री विद्यानन्दमाचार्यं वन्दे धर्मप्रकाशम्।। 10।।

अर्थः—जो कषायरहित हैं, पवित्र हैं, सम्यक्त्व आदि से विभूषित हैं और धर्म का प्रकाश करनेवाले हैं; उन आचार्यश्री विद्यानन्द की मैं वन्दना करता हूँ।

✱✱

विद्यानन्दाष्टकम्

—महावीर कण्डारकर, बारामती

विद्यानन्द नमस्तुभ्यं अविद्याध्वान्तनाशिने।
आनन्ददायिने चैव सन्मार्गोद्देश-दर्शिने।। 1।।

कुन्दकुन्दान्वये पुण्ये त्वमाचार्यो महामुनिः।
वर्तसे दुःषमे काले अस्मद्भाग्यमिदं ननु।। 2।।

भवद्विधानां साधूनां दर्शनं पापनाशनम्।
सोपानं सर्वसौख्यानां इहलोके परत्र च।। 3।।

विहरन् भारते नाथ! त्वयाक्रान्ताखिला मही।
कल्याणया गिरा लोको सर्वोऽपि सुसुखीकृतः।। 4।।

'समता सर्वभूतेषु' इति ते निश्चिता मतिः।
अतस्त्वमकारणो बन्धुः समस्तस्य जनस्य च।। 5।।

विभोऽत्याधुनिकीं प्रज्ञां तत्त्वज्ञानं च धारयन्।
देशयत्स्मान् सुपन्थानं सर्वकल्याणकारकम्।। 6।।

भगवना त्वदागमेनाढ्या परमोपकृता वयम्।
नित्यं त्वत्सङ्गमेनात्र वर्धतां जिनशासनम्।। 7।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्यानन्दं मुनिं नुत्वा वीरा: स्यु: सर्वमानवा:।
जिनधर्मे रता: भूत्वा विद्यानन्दौ च प्राप्नुयु:।। 8।।

**

आचार्य विद्यानन्द स्तुति

—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल

विद्यानन्द आचार्य आपका
सारे जग में सुयश छा रहा
श्रमण संस्कृति के प्रखर प्रवक्ता
अध्यात्मवाद के तत्त्वरसिक हो
इस युग के तुम हो मुनिनायक
सारा जग स्वीकार कर रहा।। 1 ।।

दक्षिण भारत में जन्मे तुम
उत्तर में आ बिगुल बजाया
कन्नड़भाषा-भाषी फिर भी
हिन्दी भाषा को अपनाया।। 2 ।।

कभी हिमालय की गोदी में जा
करी तपस्या निस्पृह होकर
सर्दी-गर्मी-वर्षा सहकर
सर्व ऋतुसंहारक बनकर।। 3 ।।

सन्तों के तुम शिरोमणि हो
राह दिखाने आये जग को
सत्य अहिंसा अनेकान्त का
शुभ सन्देश सुनाया सबको।। 4 ।।

हे गुरुदेव ! राष्ट्रसन्त तव !!
पावन जन्मदिवस बेला पर
सादर शीश झुकायें हम सब
हे मुनिवर ! आचार्य प्रवर।। 5 ।।

**

भारतीय संस्कृति के विचारों को स्वर देनेवाली शौरसेनी प्राकृतभाषा के अभ्युत्थान एवं प्रचार-प्रसार के लिए अहर्निश समर्पित सूक्ष्म विचारक परम तपस्वी आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के 72 वें जन्मदिवस पर प्राकृतविद्या परिवार की ओर से कृतज्ञ विनयांजलि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समयसार के पाठ

—डॉ० सुदीप जैन

[प्रस्तुत स्तम्भ में पाठों की भूलों की ओर ध्यानाकर्षित किया जा रहा है, जो कि आधुनिक सम्पादकों की असावधानी अथवा मूलपाठ न देखने की प्रवृत्ति अथवा मात्र प्रकाशनरुचि से 'मक्षिकास्थाने मक्षिकानिक्षेपः' की वृत्ति से छपने के कारण 'समयसार' में आ गयी हैं और जिनके कारण परमज्ञानी आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार' की स्वरूपहानि हो रही है। उनका परिष्कार एवं आचार्य कुन्दकुन्द के शुद्ध मूलपाठों का प्रामाणिक प्रस्तुतीकरण ही इस स्तम्भ का एकमात्र लक्ष्य है। —*सम्पादक*]

'समयसार' ग्रन्थ में सत्ताईसवीं गाथा निम्नानुसार है—

"ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एक्कट्ठो।।"

इस गाथासूत्र में प्रथम पंक्ति के द्वितीय चरण के अन्त में पाठ है "खलु एक्को"; इसके स्थान पर विभिन्न प्रतियों में अलग-अलग पाठभेद मिलते हैं, जिनका विवरण निम्नानुसार है—

क्र०	समयसार की प्रति	उपलब्ध पाठ	पृ० सं०
1.	निजानन्द ग्रन्थमाला, सहारनपुर	खलु इक्को	23
2.	परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास	खलु इक्को	57
3.	दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़	खलु इक्को	62
4.	अहिंसा मंदिर, दिल्ली	खलु इक्को	57
5.	रायबहादुर जे०एल० जैनी	खलु इक्को	21
6.	भारतीय ज्ञानपीठ (अंग्रेजी संस्करण)	खलु एक्को	33
7.	कुन्दकुन्द कहान ट्रस्ट, जयपुर	खलु एक्को	59
8.	सहजानन्द शास्त्रमाला, मेरठ	खलु इक्को	70
9.	भावनगर (गुजराती संस्करण)	खलु एक्को	63
10.	कारंजा (मराठी संस्करण)	खलु एक्को	63
11.	बैंगलोर (कन्नड़ संस्करण)	खलु एक्को	66
12.	वर्णी ग्रंथमाला, वाराणसी	खलु इक्को	50
13.	कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली	खलु एक्को	21
14.	कलकत्ता प्रकाशन	खलु इक्वो	84
15.	पं० गजाधरलाल जी का संपादन (1914 ई०)	खलु इक्को	19
16.	मूल ताड़पत्रीय प्रति	खलु यक्को	

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उक्त विवरण से निष्कर्षत: चार तरह के पाठ सामने आते हैं–

(1) खलु एक्को, (2) खलु इक्को (3) खलु इक्वो, और (4) खलु यक्को

मैं इस बार सही पाठ को छाँटने का काम विज्ञपाठकों एवं सुधी विचारकों पर छोड़ता हूँ, वे ही विचार करके बतायें कि इनमें से कौन-सा पाठ सही है; कोई दो या तीन पाठ सही हैं या फिर चारों पाठ सही हैं। विचारपूर्वक पाठकगण ही आधारसहित युक्तिपूर्वक इस बात का निर्णय करके हमें सूचित करें। प्रमाणसहित, युक्तिपूर्वक दिये गये महत्त्वपूर्ण सुझावों को ससम्मान आगामी अंक में प्रकाशित किया जायेगा।

यह विधि इस बार इसलिए अपनायी जा रही है कि इन तीनों पाठभेदों से न तो कोई अर्थभेद उपस्थित होता है और न ही कोई छन्दोभंग आता है। और न ही कोई अन्य विरोध प्रसक्त होता है। यदि कोई विरोध है, तो वह भाषागत ही है। अत: भाषायी दृष्टि से कौन-सा पाठ युक्तिसंगत है? –यही निर्णय करना यहाँ प्रासंगिक है। सम्पादकीय विधा में किसी एक पाठ को तो अधिक शुद्ध या तर्कसंगत मानकर मूलपाठ बनाना ही पड़ता है; अत: यदि आपको सम्पादन करना पड़े, तो आप किस पाठ को मूलपाठ बनायेंगे और क्यों? –यह जिज्ञासा समाधान-हेतु यहाँ प्रस्तुत है।

आशा है प्राकृतविद्या के विज्ञ पाठकगण इस दिशा में बौद्धिक आयास एवं अध्ययनपूर्वक अपने विचार अवश्य प्रेषित करेंगे। **

With Best Compliments From:-

Freelance Corporation

12 Printing Press Area,
(Behind Punjab Kesari) Wazirpur,
Delhi-110 035 (INDIA)
Tel.: 7104050, 7192321, 7103020
Fax.: (91-11) 7102020

Manufactures of

Exclusive range of Tablemats, Luxury Trays, Shower curtains, Bedsheets, Tablelinen, Kitchen co-ordinates, Memoboards and Office Planners.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'पञ्चास्तिकायसंग्रह' की कुछ प्रमुख पाण्डुलिपियाँ: एक सर्वेक्षण

—श्रीमती जैनमति जैन, एम०ए०

जैन मनीषी आध्यात्मिक होने के कारण विभिन्न कालों में विभिन्न भाषाओं में आध्यात्मिक ग्रन्थ लिख-लिखकर शास्त्र-भण्डारों को समृद्ध करते रहे हैं। इस कार्य में दानी श्रावकों का भी महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा। उन्होंने साधुवर्ग के अध्ययन के लिए विभिन्न महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की भी सैकड़ों पाण्डुलिपियाँ लिखवाकर उन्हें भेंट कीं। दूसरी ओर जैन आचार्यों ने जैनसंस्कृति की रक्षा के हेतु शास्त्रों की प्रतिलिपियाँ करवाकर उन्हें विभिन्न स्थानों में भिजवाने-की प्रेरणा प्रदान की। यही कारण है कि देश के विभिन्न राज्यों के ग्रन्थ-भण्डारों में आज भी दुर्लभ और मूल्यवान् ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध होती हैं।

पाण्डुलिपियों का लेखनकाल ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से रहा है, लेकिन उस काल की पाण्डुलिपियाँ आज उपलब्ध नहीं हैं। 10-11वीं शताब्दी से जो पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हो रही हैं, वे सम्भवत: पूर्व पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपियाँ हैं।

प्राचीन पाण्डुलिपियों के सर्वेक्षण की दिशा में विभिन्न मनीषी विद्वानों ने कार्य किया है, जिनमें डॉ० बुह्लर, पीटरसन, राइस, हर्मन जैकोबी आदि पाश्चात्य तथा आर०जी० भण्डारकर, हरि दामोदर वेलणकर, नरसिंहाचार्य, पं० के० भुजबली शास्त्री, रायबहादुर हीरालाल, पी०के० मोदी, सी०डी० दलाल, मुनि पुण्यविजय, मुनि जिनविजय, डॉ० राजाराम जैन, जौहरीमल पारेख, डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, पं० अंबालाल प्रेमचन्द्र साह, डॉ० नरेन्द्र भानावत, डॉ० प्रेमचन्द्र जैन, डॉ० कुन्दनलाल जैन, डॉ० ॠषभचन्द्र जैन फौजदार आदि विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

आचार्य कुन्दकुन्दकृत एवं शौरसेनी प्राकृतभाषा में निबद्ध 'पंचास्तिकाय' द्रव्यानुयोग-विषयक ग्रन्थ होने के कारण समाज के बीच अधिक प्रचलित रहा है, इसलिए शास्त्रभण्डारों में इसकी पाण्डुलिपियाँ भी प्रचुरमात्रा में उपलब्ध होती हैं। कतिपय ग्रन्थ-सूचियों के आधार पर हमने उक्त पंचास्तिकाय ग्रन्थ की पाण्डुलिपियों का सर्वेक्षण करने का प्रयत्न किया है, जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

(अ) कर्नाटक

कर्नाटक राज्य के शास्त्र-भण्डारों में 'पंचास्तिकाय' की ताड़पत्र पर लिखी गई अनेक हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं, जिनमें निम्नांकित भण्डारों के नाम उल्लेखनीय हैं—

(i) जैनमठ, मूडबिद्री (ताड़पत्र)

1. पंचत्थिकाय, ग्रन्थ सं० 318, पत्र संख्या 5, लिपि—कन्नड़, भाषा—प्राकृत तथा शुद्ध। इसमें कन्नड़ वृत्ति भी है।
2. पंचत्थिकाय, ग्रन्थ सं० 692, पत्र 20, लिपि—कन्नड़, भाषा—प्राकृत, पूर्ण तथा सामान्य शुद्ध। मलधारी पद्मप्रभदेवकृत कन्नड़ टीका के साथ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

3. पंचत्थिकाय, ग्रन्थ सं० 756, पत्र 3 1/2, लिपि–कन्नड़, भाषा–प्राकृत, पूर्ण तथा सामान्य शुद्ध।

(ii) वरांग जैनमठ का शास्त्र भण्डार, हेबरु

4. पंचास्तिकाय कन्नड़ टीका, बालचन्द्र की कन्नड़ टीका के साथ पंचास्तिकाय की एक प्रति है।

(iii) श्री वीरवाणी विलास जैन सिद्धान्त भवन, मूड़बिद्री (दक्षिण कर्नाटक)

5. पंचत्थिकाय ग्रन्थ सं० 16, पत्र 94, लिपि–कन्नड़ टीका सहित।

(आ) गुजरात

गुजरात में पंचास्तिकाय की हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ निम्नांकित जैन शास्त्र-भण्डारों में उपलब्ध हैं–

(i) मुनि पुण्यविजय जी के संग्रह की प्रति (एल.डी. इंस्टीट्यूट, अहमदाबाद)

6. पंचास्तिकायवृत्ति, अमृतचन्द्र सूरि, ग्रन्थ संख्या 3667, आकार 25.9 × 11.5 से०मी०, पत्र 26, पूर्ण, वि०सं० 1463।

(ii) डहेलानो उपाश्रय, अहमदाबाद (डेला उपाश्रय)

7. पंचास्तिकाय टीका, 'जिनरत्नकोष' के अनुसार अमृतचन्द्र की टीका के साथ पंचास्तिकाय की एक प्रति है।

(iii) विमलगच्छ उपाश्रय भण्डार, अहमदाबाद

8. पंचास्तिकाय सटीक, अमृतचन्द्र की टीका के साथ पंचास्तिकाय की एक प्रति है।

(iv) दिगम्बर जैन भण्डार, ईडर

9-10. 'जिनरत्नकोश' के अनुसार अमृतचन्द्र की टीका के साथ एक प्रति तथा प्रभाचन्द्र की 'प्रदीप' टीका के साथ एक प्रति; कुल दो प्रतियाँ हैं।

(v) आगलीशेरि भण्डार, पोफालिया वाडा, पाटन

11. अज्ञातकर्तृक टीका के साथ पंचास्तिकाय की एक प्रति की सूचना 'जिनरत्नकोश' से प्राप्त हुई है।

(vi) जैनानन्द भण्डार, गोपीपुरा, सूरत

12. 'जिनरत्नकोश' में उक्त भण्डार में पंचास्तिकाय की एक प्रति होने की सूचना है।

(इ) दिल्ली

(i) दि० जैन सरस्वती भण्डार, नया मन्दिर, धर्मपुरा, दिल्ली

13. (क) पंचास्तिकाय टीका, अमृतचन्द्र सूरि क्रमांक 182, संख्या ई० 28, आकार 29.1×13.9 से०मी०, पत्र 64 पूर्ण।

14. (ख) पंचास्तिकाय टीका, अमृतचन्द्र सूरि, क्रमांक 183, संख्या ई० 28 आकार 26.3×15.6 से०मी०, पत्र 51 पूर्ण।

15. (ग) पंचास्तिकाय टीका, अमृतचन्द्र सूरि, क्रमांक 184, संख्या ई० 28

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आकार 26×12 से०मी०, पत्र 68 पूर्ण।

16. (घ) पंचास्तिकाय टीका, प्रभाचन्द्रकृत 'प्रदीप' क्रमांक 185, प्रकीर्णक संख्या 12, आकार 25.4×11.3 से०मी०, पत्र 66 अपूर्ण, सम्वत् 1811।

इसप्रकार उक्त भण्डार में पंचास्तिकाय की चार प्रतियाँ उपलब्ध हैं।

(ई) बिहार

(i) जैन सिद्धान्त भवन, आरा

17. (क) पंचास्तिकाय भाषा, गद्यात्मक भाषा टीका, आकार 26.1×11.8 से०मी०; पत्र–225, अपूर्ण, क्रमांक 303, संख्या ग/60।

18. (ख) पंचास्तिकाय भाषा, हेमराज, आकार 24.1×15.1, पत्र 88, अपूर्ण, क्रमांक 304, संख्या झ/18, जीर्ण-शीर्ण।

(उ) महाराष्ट्र

(i) बलात्कारगण जैन मन्दिर, कारंजा (अकोला)

19-23. यहाँ पंचास्तिकाय की पाँच प्रतियाँ हैं। इनमें से चार आचार्य जयसेन की 'तात्पर्यवृत्ति' टीकासहित हैं। एक प्रति बालचन्द्र मुनीन्द्र की कन्नड़ टीकासहित है।

(ii) सेनगण जैनमन्दिर, कारंजा

24-25. इस भण्डार में पंचास्तिकाय की दो प्रतियाँ हैं। इनमें से एक मल्लिषेण की संस्कृत टीकासहित है।

(iii) भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना

26-38. 'जिनरत्नकोश' में प्राप्त विवरण के अनुसार उक्त भण्डार (संस्थान) में पंचास्तिकाय की तेरह पाण्डुलिपियाँ हैं। इनमें अमृतचन्द्र की टीका के साथ दो जयसेनीय टीका के साथ एक ब्रह्मदेव की टीका के साथ दो तथा हेमराज की बालावबोध टीका के साथ एक प्रति है।

(iv) ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बई (वर्तमान उज्जैन)

39-47. 'जिनरत्नकोश' के अनुसार पंचास्तिकाय की नौ पाण्डुलिपियाँ उक्त भण्डार में उपलब्ध हैं, जिनमें से तीन जयसेन की टीका के साथ हैं।

(ऊ) राजस्थान

राजस्थान प्रान्त में अजमेर, अलवर, उदयपुर, कामां, कोटा, जयपुर, जैसलमेर, जोधपुर, डूंगरपुर, दौसा, बयाना, बूंदी, बैर, भादवा, मालपुरा आदि स्थानों के जैन शास्त्रभण्डारों में पंचास्तिकाय की प्रचुर मात्रा में पाण्डुलिपियाँ विद्यमान हैं।

(i) भट्टारकीय दिगम्बर जैन मन्दिर, अजमेर

48. पंचस्तिकाय, अमृतचन्द्र की संस्कृत टीका एवं हेमराजकृत हिन्दी टीकासहित वे०सं० 1354, आकार 11½×4½ इंच, पत्र–14, लेखनकाल-चैतसुदी 11, सं० 1718।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

49. पंचास्तिकाय, बालावबोध हिन्दीसहित, वे०सं० 681, आकार 8 ¾ × 6 इंच, पत्र– 135, अपूर्ण।

50. पंचास्तिकाय, भाषा टीकासहित, वे०सं० 47, आकार 11 ¼ × 6 ½ इंच, पत्र– 86, लेखनकाल– आसोज सुदी 2, सं० 193 पूर्ण।

51. पंचास्तिकाय, टीकासहित, अमृतचन्द्र सूरिकृत, वे०सं० 212, आकार 10 ½ × 4 ¼, इंच, पत्र-41 पूर्ण।

(ii) दिगम्बर जैन अग्रवाल पंचायती मन्दिर, अलवर

52. पंचास्तिकाय भाषा, बुधजनकृत भाषा टीका, वे०सं० 63, लेखन सं० 1862, आकार 11 × 5 ½ इंच, पत्र–63 पूर्ण।

(iii) दिगम्बर जैन अग्रवाल मन्दिर, उदयपुर

53. पंचास्तिकाय टीका, संस्कृत वे०सं० 209, आकार 10 × 4 इंच, लेखनकाल–कार्तिक वदी 6, शनिवार संवत् 1748, पत्र–46 पूर्ण।

54. पंचास्तिकाय भाषा, हीरानन्दकृत हिन्दी पद्य, वे०सं० 131, आकार 9×4 ½ इंच, ले०काल–ज्येष्ठ सुदी 6, सं०1711, पत्र-189, अपूर्ण, बीच के अनेक पत्र अनुपलब्ध।

55. पंचास्तिकाय भाषा, बुधजनकृत भाषा टीकासहित, वे०सं० 46, आकार 11 ½ × 4 ¼ इंच ले० काल सं० 1841, पत्र-136 पूर्ण।

56. पंचास्तिकाय भाषा, पाण्डे हेमराजकृत, वे०सं० 315, आकार 11 ½ × 5 ¼ लेखनकाल सं० 1841, पत्र-136 पूर्ण।

(iv) श्री दिगम्बर जैन मन्दिर सम्भवनाथ, उदयपुर

57. पंचास्तिकाय, संस्कृत टीकासहित, वे०सं० 175/241 लेखनकाल आश्विन बदी 6, शुक्रवार संवत् 1513, आकार 12 × 5 इंच, पत्र संख्या-76 पूर्ण।

(v) श्री दिगम्बर जैन मन्दिर दीवान जी, कामा

58. पंचास्तिकाय भाषा, वे०सं० 223, ले०का० आसोज वदी 9, सं० 1614, पत्र- 66 अपूर्ण।

59. पंचास्तिकाय भाषा, वे०सं० 166, ले०का० फाल्गुन सुदी 9, सं० 1614, पत्र- 66 पूर्ण।

60. पंचास्तिकाय भाषा, वे०सं० 292, आकार 13×5 इंच, लेखककाल-भादों वदी 5 सं० 1632, पत्र-137 पूर्ण।

61. पंचास्तिकाय भाषा, पाण्डे हेमराजकृत टीका, वे०सं० 168, लेखनकाल-कार्तिक वदी 14 सं० 1626, पत्र-176 पूर्ण।

62. पंचास्तिकाय भाषा, हेमराजकृत टीका, वे०सं० 22, पत्र-145।

(vi) श्री दिगम्बर जैन मन्दिर बोरसली, कोटा

63. पंचास्तिकाय भाषा, हेमराजकृत, वे०सं० 336, लेखनकाल सं० 1649, आकार 11 × 6 इंच, पत्र- 131 पूर्ण।

(vii) आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

64. पंचास्तिकाय, भाषा टीका हेमराज कृत, आकार 11 ½ × 5 ½ इंच, पत्र संख्या 147, लेखनकाल 1736 V.S.।
65. पंचास्तिकाय सटीक, टीकाकार प्रभाचन्द्र, आकार 10 × 5 इंच, पत्र संख्या-65।
66. पंचास्तिकाय सटीक, टीकाकार प्रभाचन्द्र, आकार 11 ½ × 5 इंच, लेखनकाल सं० 1828, पत्र-संख्या 56।
67. पंचास्तिकाय सटीक, टीका-प्रभाचन्द्र, आकार 10 ½ × 4 इंच, पत्र-36।
68. पंचास्तिकाय सटीक, टीका-अमृतचन्द्र, आकार 10 × 4 इंच, पत्र- 148, लेखनकाल सं०-1636।
69. पंचास्तिकाय सटीक, अमृतचन्द्र, आकार 10 ½ × 5 इंच, लेखनकाल सं० 1627, पत्र सं० 199।
70. पंचास्तिकाय, आकार 10 ½ × 5 इंच, पत्र-26।

(viii) श्री दि० जैनमन्दिर छोटे दीवान, जयपुर एवं श्री चन्द्रप्रभ दि० जैन सरस्वती भवन, जयपुर

71. पंचास्तिकाय, अमृतचन्द्रसूरि की टीकासहित, वे०सं० 202, पत्र-79।
72. पंचास्तिकाय, अमृतचन्द्र की टीकासहित वे०सं० 203, लेखनकाल सं० 1956, पत्र संख्या 60।
73. पंचास्तिकाय, हिन्दी टीकासहित, हेमराजकृत, वे० संख्या 620, लेखनकाल सं० 1954, पत्र संख्या 150।
74. पंचास्तिकाय, हेमराजकृत भाषाटीकासहित, वे० सं० 621, ले०का० अषाढ़ सुदी-4, सं० 1937, पत्र सं०-144।
75. पंचास्तिकाय, हेमराजकृत भाषाटीकासहित, वे०सं० 622, पत्र संख्या-136।

(ix) श्री दि० जैन मन्दिर ढोलियान, जयपुर

76. पंचास्तिकाय टीका, अमृतचन्द्र, वे०सं० 154, आकार 13 ½ × 5 ½ इंच, पत्र संख्या-65, पूर्ण।
77. पंचास्तिकाय टीका, भाषा टीका, पाण्डे हेमराज, वे०सं० 34, आकार 10 ½ × 5 ½ इंच, ले०का० पौष सुदी 11 सं० 1719, पत्र संख्या-191 पूर्ण।

(x) श्री दि० जैन मन्दिर पाटौदी, जयपुर

78. पंचास्तिकाय, वे०सं० 103, लेखनकाल सं० 1703, आकार 9 × 5 इंच, पत्र- 53, पूर्ण।
79. पंचास्तिकाय, वे०सं० 404, लेखनकाल सं० 1940, आकार-×, पत्र सं० 43।

(xi) श्री दि० जैन मन्दिर पार्श्वनाथ, जयपुर

80. पंचास्तिकाय, वे०सं० 169, ले०का० आषाढ़वदी 5, सं० 1724, पत्र सं० 11।
81. पंचास्तिकाय, अमृतचन्द्र की टीका के साथ, लेखनकाल सं० 1541, पत्र संख्या 75।

(xii) दि० जैन मन्दिर बड़ा तेरहपंथी, जयपुर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

82. पंचास्तिकाय, वे०सं० 1012, आकार 10 × 4 ½ इंच, पत्र संख्या- 9, पूर्ण एवं सामान्य शुद्ध।
83. पंचास्तिकाय, हिन्दी टीका-पाण्डे हेमराज, वे०सं० 1013, आकार 12 × 5 ½ इंच, पत्र सं० 104, पूर्ण, शुद्ध, दशा सामान्य।
84. पंचास्तिकाय, अमृतचन्द्र की संस्कृत टीका, वे०सं० 1014, आकार 12 × 6इंच, पत्र सं० 67, पूर्ण एवं शुद्ध/सामान्य।
85. पंचास्तिकाय, अमृतचन्द्र की टीका वे०सं० 1015, आकार 9 × 3 ½ इंच ले०का० चैतवदी 10, सं० 1329 पत्र सं०-188, पूर्ण एवं शुद्ध।
86. पंचास्तिकाय, अमृतचन्द्र की टीका, वे०सं० 1016, आकार 11 × 5 इंच ले०का० सं० 1653, पत्र सं० 155, पूर्ण एवं शुद्ध।
87. पंचास्तिकाय, वे०सं० 1017, आकार 11 ½ × 5 ½ इंच, ले०का० फाल्गुन वदी 13 सं० 1774 पत्र सं० 17, पूर्ण एवं शुद्ध।
88. पंचास्तिकाय, अमृतचन्द्र की टीका, वे०सं० 1018, आकार 11 × 5 ½ इंच, ले०का०सं० 17, अपूर्ण।
89. पंचास्तिकाय, अमृतचन्द्र की टीका, वे०सं० 1019, आकार 10 × 7 इंच, पत्र सं० 52, पूर्ण एवं शुद्ध।
90. पंचास्तिकाय, संस्कृत टीका, वे०सं० 1020, आकार 10 × 4 इंच, पत्र सं० 52, पूर्ण एवं शुद्ध।
91. पंचास्तिकाय, अमृतचन्द्र की टीका, वे०सं० 1021, आकार 10 ½ × 4 ½ इंच, पत्र सं० 55, पूर्ण, शुद्ध, जीर्ण-शीर्ण।
92. पंचास्तिकाय, अमृतचन्द्र की टीका, वे०सं० 1022, आकार 11 × 5 इंच, पत्र सं० 60, पूर्ण, शुद्ध तथा सामान्य।
93. पंचास्तिकाय, वे०सं० 1026, आकार 12×5 ½ इंच, पत्र सं० 113, अपूर्ण शुद्ध सामान्य।
94. पंचास्तिकाय भाषा, पाण्डे हेमराज, वे०सं० 1027, आकार 12 × 6 इंच, पत्र सं० 84, पूर्ण, शुद्ध, सामान्य।
95. पंचास्तिकाय भाषा, हेमराज, वे०सं० 1028, आकार 11× 4 इंच, पत्र सं० 213, पूर्ण, सामान्य शुद्ध, जीर्ण-शीर्ण।
96. पंचास्तिकाय भाषा, हेमराज, वे०सं० 1029, आकार 11 ½ × 5 ½ इंच, पत्र सं० 146, अपूर्ण।
97. पंचास्तिकाय भाषा, हेमराज, वे०सं० 1030, आकार 11 ½ × 5 ½ इंच, ले०का०सं० 1721, पत्र सं० 123, पूर्ण तथा शुद्ध।
98. पंचास्तिकाय भाषा, हेमराज, वे०सं० 1023, आकार 12 × 5 ½ इंच, पत्र सं० 131, पूर्ण तथा शुद्ध।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

99. पंचास्तिकाय भाषा, हेमराज, वे०सं० 1024, आकार 11 ½ × 6 इंच, ले०का०सं० 1820, पत्र सं० 229, पूर्ण एवं शुद्ध।

100. पंचास्तिकाय भाषा, हेमराज, वे०सं० 1025, आकार 11× 7 ½ इंच, पत्र सं० 101, पूर्ण एवं शुद्ध, उत्तम दशा।

101. पंचास्तिकाय भाषा, पं० हीरानन्द, वे०सं० 1031, आकार 10× 7 इंच, रचनाकाल सं० 1701, ले०का०सं० 1899, पत्र सं० 83, अपूर्ण तथा शुद्ध।

102. पंचास्तिकाय भाषा, पं० हीरानन्द वे०सं० 1242, आकार 11 ½ × 5 इंच, ले०का०सं० 1720, पत्र सं० 102, पूर्ण तथा सामान्य शुद्ध।

(xiii) दि० जैन बड़ा तेरहपंथी मन्दिर एवं बाबा दुलीचन्द्र शास्त्रभण्डार, जयपुर

103. पंचास्तिकाय, वे०सं० 402, पत्र सं० 34

104. पंचास्तिकाय, वे०सं० 403, ले०का०सं 1861, पत्र सं० 13

105. पंचास्तिकाय, वे०सं० 32, पत्र सं० 32, अपूर्ण, ले०का०सं० ×

106. पंचास्तिकाय टीका, अमृतचन्द्र सूरि, वे०सं० 405, आकार 12 ½ × 7 इंच, पत्र सं० 124, ले०का०सं० श्रावण वदी 14 सं० 1938, पूर्ण।

107. पंचास्तिकाय भाषा, हीरानन्दकृत हिन्दी टीका, वे०सं० 407, ले०का० ज्येष्ठ सुदी 6 सं० 1700, आकार 11 × 8 इंच, पत्र सं० 63, पूर्ण।

108. पंचास्तिकाय भाषा, पाण्डे हेमराज हिन्दी गद्य, वे०सं० 406, आकार 13×7 इंच, पत्र सं० 175, पूर्ण।

109. पंचास्तिकाय भाषा, पाण्डे हेमराज, वे०सं० 408, ले०का०सं० 1947, पत्र सं० 135, पूर्ण।

(xiv) श्री दि० जैन मन्दिर दीवान बधीचन्द्र, जयपुर

110. पंचास्तिकाय मूलमात्र, वे०सं० 116, ले०का०विसं० 1805, आकार 10 ½×5 इंच, पत्र सं० 33, पूर्ण।

111. पंचास्तिकाय, अमृतचन्द्र की संस्कृत टीकासहित, वे०सं० 114, ले०का०-फाल्गुन वदी 7 संवत् 1872, आकार 12 × 5 ½ इंच, पत्र सं० 43, पूर्ण।

112. पंचास्तिकाय, वे०सं० 115, लेखनकाल-आषाढ़ वदी 7 संवत् 1825, आकार 12× 5 ½ पूर्ण।

113. पंचास्तिकायप्रदीप, प्रभाचन्द्र की संस्कृत टीकासहित, वे०सं० 389, आकार 13× 6 इंच, पत्र सं० 22, अपूर्ण।

114. पंचास्तिकाय भाषा, हिन्दी गद्य टीका, पं० हेमराजकृत, वे०सं० 321, ले०का० आषाढ़ बदी 8, सं० 1721, आकार 11 × 5 ½ इंच, पत्र सं० 104, अपूर्ण।

115. पंचास्तिकाय भाषा, पं० बुधजनकृत पद्यात्मक टीका, वे०सं० 375, आकार 11× 5 इंच, ले०का०सं० 1892, पत्र सं० 62, पूर्ण।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(xv) श्री दि० जैन मन्दिर लश्कर, जयपुर

116. पंचास्तिकाय, अमृतचन्द्र की टीकासहित, वे०सं० 28, लेखनकाल-माघ सुदी 13, सं० 1573, आकार 11 ½×5 ½ इंच, पत्र सं० 50

117. पंचास्तिकाय, अमृतचन्द्र की टीकासहित, वे०सं० 29, ले०का०-माघ बदी 9 संवत् 1747, पत्र सं० 115।

(xvi) श्री दि० जैन मन्दिर लूणकरण जी पांडया, जयपुर

118. पंचास्तिकाय, वे०सं० 126, आकार 10 × 4 ½ इंच, पत्र सं० 91, अपूर्ण 1 पत्र संख्या 48 से 51 तक नहीं है।

(xvii) श्री दि० जैन मन्दिर विजयराम पाण्ड्या, जयपुर

119. पंचास्तिकाय, बुधजनकृत भाषाटीकासहित, वे०सं० 71, ले०का०सं० 1892, आकार 11 × 5 ½ इंच, पत्र सं० 611।

(xviii) श्री दि० जैन मन्दिर यशोदानन्द, जयपुर

120. पंचास्तिकाय, वे०सं० 187, पत्र सं० 18।

(xix) श्री दि० जैन मन्दिर संघी, जयपुर

121. पंचास्तिकाय, वे०सं० 196, पत्र सं० 25, अपूर्ण।

122. पंचास्तिकाय, अमृतचन्द्र की टीकासहित, वे०सं० 402, ले०का० वैशाख सुदी 10 सं० 1487, पत्र सं० 105।

123. पंचास्तिकाय भाषा, पाण्डे हेमराजकृत भाषाटीका, वे०सं० 403, पत्र सं० 149।

(xx) जिनभद्रसूरि ज्ञान भंडार, जैसलमेर

124. पंचास्तिकाय भाषा, हेमराजकृत, वे०सं० 684, आकार 29× 14 सें०मी०, पत्र सं० 157, पूर्ण एवं शुद्ध।

125. पंचास्तिकाय भाषा, हेमराजकृत बालावबोध टीकासहित, वे०सं० 1065, आकार– 27 × 12 सें०मी०, पत्र सं० 153, अपूर्ण क्र० 567, 1065।

(xxi) राजस्थान ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जोधपुर

126. पंचास्तिकाय, बालावबोधसहित, क्रमांक 3582, ग्रन्थांक 16175।

(xxii) दि० जैन मन्दिर नेमिनाथ, टोडारायसिंह (टोंक)

127. पंचास्तिकाय, संस्कृत टब्बा टीकासहित, वे०सं० 50/196, आकार 10 ½ × 6 इंच, ले०का०सं० 1906, पत्र सं० 19।

(xxiii) भट्टारकीय दि० जैन मन्दिर कोटड़ियों का, डूंगरपुर

128. पंचास्तिकाय, हिन्दी टब्बा टीकासहित, वे०सं० 203-84, आकार 10 × 6 इंच, पत्र सं० 30 पूर्ण।

129. पंचास्तिकाय भाषा, हेमराजकृत, वे०सं० 240-95, आकार 10 × 5 ½, ले०का० 1805, पत्र सं० 150, पूर्ण।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(xxiv) दि० जैन मन्दिर बड़ा बीसपन्थी, दौसा

130. पंचास्तिकाय भाषा, हेमराजकृत, वे०सं० 24-60, आकार 12 ½ × 5 ½ इंच, पत्र सं० 110, लेखनकाल-पौष् सुदी 6 संवत् 1749 पूर्ण।

(xxv) दि० जैन मन्दिर, बयाना (कंज)

131. पंचास्तिकाय भाषा, हेमराजकृत, वे०सं० 122, लेखनकाल-संवत् 1929, आकार 12 ½ × 5 ½ इंच, पत्र सं० 110, पूर्ण।

(xxvi) दि० जैन मन्दिर पार्श्वनाथ चौगान, बूंदी

132. पंचास्तिकाय, वे०सं० 18, आकार 10 ¾ × 4 ½ इंच, पत्र सं० 30।

(xxvii) दिगम्बर जैन मन्दिर, बैर

133. पंचास्तिकाय, हिन्दी टीकासहित, वे०सं० 15, आकार–9 × 4 इंच, पत्र सं० 35।

(xxviii) दिगम्बर जैन पंचायती मन्दिर, भरतपुर

134. पंचास्तिकाय भाषा, हेमराजकृत, वे०सं० 301, लेखनकाल-मगसिर सुदी-14, संवत् 1874, पत्र सं० 138, पूर्ण।

135. पंचास्तिकाय भाषा, हेमराजकृत, वे०सं० 304, लेखनकाल-सं० 1894, पत्र सं० 154, पूर्ण।

(xxix) जैन मन्दिर, भादवा

136. पंचास्तिकाय भाषा, हेमराजकृत, वे०सं० 28/23, आकार–12 × 6 इंच, पत्र सं० 96, पूर्ण।

(xxx) दि० जैन मन्दिर तेरहपंथी मालपुरा, टोंक

137. पंचास्तिकाय भाषा, हेमराजकृत, वे०सं० 3, आकार–12 × 5 इंच, समय-माघ सुदी 13 सं० 1862, पत्र सं० 181।

(ए) स्ट्रासबर्ग लाइब्रेरी, स्ट्रासबर्ग (जर्मनी)

138. 'जिनरत्नकोश' के अनुसार यहाँ ब्रह्मदेव की टीका के साथ एक प्रति सुरक्षित है।

उपर्युक्त विवरण से कई महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आये हैं, जिनसे आगे अनुसन्धान की दिशा उद्घाटित हुई है। उक्त सर्वेक्षण में 138 (एक सौ अड़तीस) हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का सामान्य परिचय दिया है। इसमें आचार्य अमृतचन्द्र की टीका के साथ सत्ताईस, जयसेनीय टीका की आठ, प्रभाचन्द्रीय टीका की सात, ब्रह्मदेव की टीकावाली दो, मलधारी पद्मप्रभदेवकृत कन्नड़ टीका की एक, मुनि बालचन्द्र की कन्नड़ी टीका की दो, मल्लिषेण की टीका की एक, पं० हेमराज की भाषाटीका की 33 (तैंतीस), पंडित हीरानन्द की चार, बुधजन की पाँच तथा टब्बा टीका हिन्दी और संस्कृत में एक-एक है। कुल पाण्डुलिपियों में संस्कृत टीका की पैंतालीस, कन्नड़ टीका की तीन एवं हिन्दी की बयालीस प्रतियाँ हैं।

उक्त सर्वेक्षण के अनुसार सर्वाधिक प्राचीन पाण्डुलिपि श्री दि० जैन मन्दिर तेरहपंथी,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जयपुर के ग्रन्थभंडार में सुरक्षित होना चाहिए, जो पाठ-सम्पादन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो सकती है। ब्रह्मदेव, मल्लिषेण एवं मलधारी पद्मप्रभदेव की टीकाएँ अनुसन्धान की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। मेरी जानकारी में अभी तक ये टीकाएँ अनुपलब्ध एवं अप्रकाशित हैं। उनकी खोज के लिए भी मैं प्रयत्नशील हूँ।

प्रस्तुत सर्वेक्षण-कार्य का मूलस्रोत अभी तक की प्रकाशित ग्रन्थ-सूचियाँ हैं, जिनकी सूची अनुसन्धाताओं के उपयोग-हेतु अकारादिक्रम से यहाँ प्रस्तुत की जा रही है :–

1. आमेरशास्त्र भण्डार, जयपुर की ग्रन्थसूची (डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, श्री दि०. जैन अतिशय क्षेत्र कमेटी, महावीर भवन जयपुर, वी०नि०सं० 2475), पृ० 92।
2. ए० कैटेलॉग ऑफ संस्कृत-प्राकृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन दि राजस्थान ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जोधपुर (सं० मुनि जिनविजय, राजस्थान ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जोधपुर, सन् 1967), भाग 3 (ए)।
3. कन्नड़प्रान्तीय ताड़पत्रीय ग्रन्थसूची (सं० विद्याभूषण, पं० के० भुजबली शास्त्री, मूड़बिद्री; भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; वी०नि०सं० 2474, सन् 1948), पृ० 16 एवं 204।
4. केटेलॉग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मेनसक्रिप्टस इन दी सेन्ट्रल प्रोविन्स एण्ड बरार (रायबहादुर हीरालाल, गवर्मेन्ट ऑफ दी सी०पी० एण्ड बरार, नागपुर, सन् 1926), पृ० 662 (नं० 7539-7545)।
5. जिनभद्रसूरि ज्ञानभण्डार जैसलमेर, राजस्थान हस्तलिखित ग्रन्थों का सूचीपत्र, द्वितीय खण्ड (सेवा मंदिर रावटी, जोधपुर राजस्थान, वि०सं० 2514, सन् 1988) पृ० 112।
6. 'जिनरत्नकोश' (सं०प्रो० हरि दामोदर वेलणकर, भण्डारकर प्राच्य विद्या संशोधन मन्दिर, पूना 1944 ई०), भाग 1, पृ० 231-232।
7. जैन सिद्धान्त-ग्रन्थावली (सं० ऋषभचरण जैन, फौजदार, श्री देवकुमार जैन प्राच्य ग्रन्थागार, जैन सिद्धान्त भवन, आरा, सन् 1987), भाग 1, पृ० 52।
8. दिल्ली जिन-ग्रन्थावली (सं० कुन्दनलाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली सन् 1981), पृ० 26।
9. मुनिश्री पुण्यविजयजी हस्तप्रति-संग्रहगतानां संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों की सूची, भाग 1 (सं०पं० अंबालाल, प्रेमचन्द्र शाह लाल भाई दलपत भाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद, सन् 1963), पृ० 458, क्रम सं० 3590।
10. राजस्थान के जैन शास्त्रभंडारों की ग्रन्थसूची सं० डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, एवं पं० अनूपचन्द्र, भाग 2, पृ० 5, भाग 3, पृ० 119, 142-144, 180-181 भाग 4, पृ० 40-41, भाग 5, पृ० 72-74 जयपुर।

–जैनबाला विश्राम उच्च विद्यालय, धरहरा, आरा (बिहार) 802301

**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक महत्त्वपूर्ण पत्र

[वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध संयमी विद्वद्वरेण्य पं० नाथूलाल जी शास्त्री सम्प्रति विद्यमान विद्वत्सन्तति के शीर्ष व्यक्तित्व हैं। उनका अध्ययन एवं अनुभव अत्यन्त व्यापक है। मेरे जैसे नवांकुर के लिए उनका यह सहज स्नेह एवं आशीष अमूल्य है। उन्होंने कृपा करके जो आशीवर्चन प्रेषित किये हैं – वे पाठकों के साथ सहभागित्व के लिए यहाँ अविकलरूप से प्रस्तुत हैं।—*सम्पादक*]

'वाग्दीक्षा : स्वरूप एव महत्त्व' पर मेरे विचार

'वाग्दीक्षा स्वरूप एवं महत्व' श्री डॉ० सुदीप जैन द्वारा लिखित श्री कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली से प्रकाशित पुस्तिका पढ़कर जैन श्रमण की अनगारदीक्षा के पश्चात् विधिवत् 'वाग्दीक्षा' भी आवश्यक है—इसकी महत्वपूर्ण उपयोगिता ज्ञात हुई। इस पवित्र हितकारी परम्परा का दिशासंकेत परम पूज्य 108 आचार्यश्री विद्यानन्द जी महाराज द्वारा उपलब्ध होने से ही प्रस्तुत कृति की रचना का विद्वान् लेखक द्वारा प्रयास किया गया है। आचार्यश्री अपने अनवरत स्वाध्याय एवं चिन्तन द्वारा ऐसी ही अनेक शोध-खोज करते रहते हैं, जो श्रमण संस्कृति के गौरव के अनुरूप अनिवार्य विषय हैं; जिन्हें हम प्राय: विस्मरण किये हुए हैं या उनके यथार्थरूप से अनभिज्ञ हैं।

श्रमणदीक्षा के पश्चात् 'वाग्दीक्षा' की क्रिया में मुखशुद्धि के अंतर्गत तेरह लवंगें, पाँच इलायचियाँ, तीन सुपारियाँ अलग-अलग कटोरों में रखी जायें। आचार्य नवदीक्षित मुनि से सिद्ध-योग-आचार्य-शांति एवं समाधिभक्ति का उच्चारण करावें। तदनन्तर 'मुखशुंद्धि' यानि 'वाग्दीक्षा' द्वारा उसे उपदेश देने का अधिकार प्रदान करें। इस क्रिया में लवंग आदि जो प्रतीक या संकेतमात्र हैं; जो विधि से अनभिज्ञ हैं, वे इसे जानते नहीं। ऐसे अनेक प्रसंग प्रतिष्ठाविधि या पूजाविधि आदि में हम देखते हैं। यथा बिंबप्रतिष्ठा में 'तिलकदान' में मूर्ति को तिलक लगाते हैं, जबकि प्रतिष्ठाचार्य को तिलक लगाना चाहिए। 'मुखवस्त्रविधि' में मूर्ति के मुख पर वस्त्र लपेटते हैं, जबकि मुखवस्त्र यानि मूर्ति के आगे पर्दा लगाना चाहिए। 'कंकणबंधन' में मूर्ति को कंकण बांधते हैं, जबकि कंकण मूर्ति के आगे रखना चाहिए। यह सब क्रियाविधि का यथार्थ ज्ञान न होने का परिणाम है, जिसका आज भी सुधार नहीं हो पा रहा है।

उक्त वाग्दीक्षा-मुखशुद्धि का उद्देश्य जिनमुद्रा द्वारा साधु को विद्वान् प्रवचनकार एवं कुशलवाग्मी बनाना है। भक्तिपाठों में संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी आदि भाग का ज्ञान तथा प्रत्येक साधुचर्या के समय उनका उपयोग अनिवार्य है। इस पुस्तिका में विभिन्न ग्रन्थों के बोधवाक्य पद्यरूप में संकलित हैं, जो मुखाग्र करने योग्य है। वाग्दीक्षा को विवाह के पश्चात् 'गौना' का उदाहरण देकर लेखक ने अपने अनुभव का परिचय दिया है। मेरा निवेदन है कि 'वाग्दीक्षा' का प्रत्यक्षरूप में प्रचार-प्रसार होना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'स्वरूपसम्बोधन-पञ्चविंशतिः' एक समीक्षा

'स्वरूपसम्बोधन-पञ्चविंशतिः' 'श्रीमद् भट्टाकलङ्कदेव प्रणीत, डॉ० सुदीप जैन द्वारा संपादित कन्नड़ एवं संस्कृत टीकायुक्त अपूर्व पुस्तिका है। प्रस्तुत कृति अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, अलवर द्वारा प्रकाशित है। प्रसिद्ध आचार्य अकलंकदेव द्वारा पञ्चविंशति श्लोकों में स्वरूपसम्बोधन नाम से शुद्ध आध्यात्मिक रचना वास्तव में सकल भव्यजनोपकारी है। इसके प्रारंभ में आत्मा के स्वरूप का सैद्धांतिक विवेचन परमत-निराकरणपूर्वक न्यायशैली में करते हुए अनेकांत की स्थापना की है। उत्तरार्द्ध में अध्यात्मभावना की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। टीकाकारों की टीकायें भी मूलानुगामी, सुन्दर और विशद हैं।

इस ग्रन्थ के संपादन की सर्वाधिक विशेषता यह है कि संपादक मनीषी ने जहाँ भी इसकी प्रतियाँ उपलब्ध हुईं और पाठभेद मिले, उन सब की सूची और संग्रह के साथ परस्पर अन्तर का दिग्दर्शन कराते हुए संपादन के जो आधुनिक विस्तृत नियम और शैली है; उसका पूर्ण परिपालन किया है और इस विषय में उनका परिश्रम सराहनीय है। अन्य संपादकों के लिए यह ग्रन्थ मार्गदर्शक है। इसकी प्रस्तावना, ग्रन्थ समीक्षा और इतिहास भी पठनीय है।

नाथूलाल जैन शास्त्री, इन्दौर

**

विद्वान् वक्ता ?

आत्मनोऽपि न यः शक्तः, संदेह-व्यपनोदने।
उत्तरं स कथं दत्ते, परेषां हेतुवादिनाम्।।

—आचार्य अमितगति, धर्मपरीक्षा, 8/47

अर्थः— जो विद्वान् वक्ता अपने ही सन्देह को दूर कर सकने में असमर्थ है, वह अन्य हेतुवादियों को कैसे उत्तर दे सकेगा? अर्थात् उनके प्रश्नों व तर्कों का निराकरण वह कदापि नहीं कर सकेगा।

वस्तुतः विद्वान् को विवक्षित विषय विशद अध्ययनपूर्वक अपनी जिज्ञासाओं का समाधान किये बिना परोपदेश की प्रवृत्ति उचित नहीं है — यही प्रस्तुत पद्य का प्रतिपाद्यार्थ है। आज जो समाज में अनेक प्रकार के विसंवाद एवं मतभेद पारस्परिक कलह उत्पन्न कर समाज एवं देश की एकता को खतरा पैदा कर रहे हैं; उनके मूल में मार्गदर्शक वक्ताओं में अपेक्षित योग्यता एवं विचार सम्प्रेषण क्षमता के संतुलन का न होना ही सर्वप्रमुख कारण है। यदि इसका परिष्कार कर लिया जाय, तो अनेकविध समस्याओं का सहज ही समाधान किया जा सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुस्तक-समीक्षा

(1)

पुस्तक का नाम : जैनन्याय की भूमिका
लेखक : डॉ० दरबारीलाल कोठिया
प्रकाशक : जैनविद्या संस्थान
दि० जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी (राज०)
मूल्य : पुस्तकालय संस्करण 100.00 रुपये; सामान्य संस्करण 70.00
प्रथम संस्करण 1995, पृष्ठ 123

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जैनधर्म आध्यात्मिक है। अध्यात्म और न्याय का अविनाभावी सम्बन्ध है। न्याय का जनक नयवाद और प्रमाणवाद है। वस्तुतः नय व प्रमाण के द्वारा ही वस्तुस्वरूप का कथन किया जाता है। इसलिये जैन न्यायशास्त्र प्रमाण और नय को न्याय कहता है। सम्यक्‌रूप से पदार्थ का निर्णय करना प्रमाण है। प्रमाण दो प्रकार के हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। जैन न्याय में दोनों ही मान्य हैं क्योंकि दोनों ही ज्ञापकतत्त्व हैं। वास्तव में स्व-पर प्रकाशक ज्ञान ही प्रमाण है। जैनन्याय की इस मूल प्रतिपत्ति का विवरण उक्त पुस्तक में लेखक ने साररूप में प्रस्तुत कर जन साधारण के लिए दुरूह विषय बोधगम्य कर दिया है। जैनदर्शन के मौलिक सिद्धान्त स्याद्वादवाचक अनेकान्तवाद का इसमें सुन्दर वर्णन किया गया है।

यथार्थतः वस्तु स्वयं अनन्तधर्मात्मक है। प्रत्येक वस्तु में दो प्रकार के अंश हैं—ध्रुव और क्षणिक। वस्तु का ऐसा ही धर्म है कि जो स्वपक्ष का साधक है, वह परपक्ष का दूषक है। दोनों प्रकार के विरोधी धर्म एक साथ प्रत्येक वस्तु में विद्यमान हैं। एक साथ रहनेवाले तथा क्रम से प्रकट होनेवाले धर्मों का प्रतिपादक अनेकान्तवाद है। इसप्रकार अनेकान्त परस्पर विरुद्ध दो युगलों के अनन्त धर्मों का प्रकाशक है। अनेकान्तवाद की शैली का नाम स्याद्वाद है। मूल में आस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व में स्याद्वादमूलक सप्तभंगों का प्रतिपादन निबद्ध किया गया था। उसके आधार पर आचार्य गुणधर, आचार्य कुन्दकुन्द तथा आचार्य पुष्पदन्त भूतबली, गृद्धपिच्छाचार्य, समन्तभद्राचार्य प्रभृति ने निरूपण किया। 'प्रतिष्ठापाठ' में कहा गया है— नास्त्यस्तिवादमधिश्रष्टि सुलक्षपादं,

सप्तेद्धभंगरचना प्रतिपत्तिमूलम्।
स्याद्वादनीतिभिरुदस्तविरोधमात्रं,
संपूजये जिनमतप्रसवैकहेतुम्।।

"न्यायविद्या और उसके अंग" इस तृतीय परिच्छेद के चालीस पृष्ठ ही यथार्थ में जैनन्याय की यथार्थता को रेखांकित करनेवाले हैं। प्रारम्भिक परिच्छेद में प्रागवृत्त है तथा द्वितीय परिच्छेद में दर्शन और उसके प्रमुख अंगों का निरूपण किया गया है। चतुर्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिच्छेद में मध्यकालीन वाद-विद्या का दिग्दर्शन कराया गया है। पुस्तक का अन्तिम परिच्छेद है— जैन तार्किक और उनके न्यायग्रन्थ। इस प्रकार पाँच परिच्छेदों में वस्तु-विषय के विवेचन के साथ जैनन्याय का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया गया है। अतः उभयविध रचना महत्त्वपूर्ण एवं प्रासंगिक है। पुस्तक पठनीय तथा संग्रहणीय है। इस सुन्दर प्रकाशन के लिए प्रकाशक तथा लेखक दोनों साधुवाद के योग्य हैं।

—डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

**

(2)

पुस्तक का नाम — जैनधर्म का सरल परिचय

लेखक — बलभद्र जैन

प्रकाशक — कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ
एम०जी० रोड़, तुकोगंज, इन्दौर, म०प्र०
(प्रथम संस्करण सन् 1996 ई०)

पृष्ठ संख्या — 282

मूल्य — दो सौ रुपये

पण्डित बलभद्र जैन साहित्य के प्रसिद्ध लेखक हैं। 'जैनधर्म का सरल परिचय' उनकी नवीनतम कृति है। इसे पढ़कर पाठक को जैनधर्म के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान हो सकता है।

यद्यपि 'जैनधर्म' शीर्षक से पहले ही अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं, किन्तु पं० बलभद्र की यह पुस्तक उनसे कुछ भिन्न है। इसमें जैनधर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों एवं संप्रदायों का भी यथाप्रसंग परिचय प्राप्त होता है, जोकि वर्तमान संदर्भों में सामान्य पाठकों की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। इसमें साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह से प्रेरित होकर लेखक ने कुछ भी नहीं लिखा है, अपितु जो भी तथ्य मिले, उन्हीं को प्रामाणिकरूप से प्रस्तुत किया गया है। —यह विद्वान् लेखक की विशेषता है।

प्रस्तुत पुस्तक में 'मैं और मेरा जीवन', 'विभिन्न धर्म और स्याद्वाद', 'जैनधर्म और गुणपूजा', 'गृहस्थ की आचारसंहिता', 'कर्मसिद्धान्त', 'जैनधर्म—भोगभूमि से भगवान महावीर पर्यन्त', 'हमारे आचार्य तीर्थ मन्दिर और मूर्तियाँ', 'जैनधर्म एवं विज्ञान', 'समस्याएं और समाधान'—इत्यादि अनेक शीर्षकों के द्वारा जैनधर्म का सरल-सुबोध परिचय दिया गया हैं। ऐसे वर्गीकरणों के साथ सरल एवं सुबोधगम्य रूप से प्रामाणिक परिचय अन्य किसी उपलब्ध कृति में प्राप्त नहीं होता है।

पुस्तक का मुद्रण शुद्ध और सुन्दर रूप में हुआ है।

—वीरसागर जैन

**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभिमत

'प्राकृतविद्या' का स्तर उत्कृष्ट है एवं इसका विषय-चयन अद्भुत है; प्रतिपादन गंभीर एवं तर्कपूर्ण है। 'समयसार के पाठ' तो क्रान्तिकारी हैं।

—भट्टारक चारुकीर्ति स्वामी जी, *मूड़बिद्री*

**

'प्राकृतविद्या' का अक्टूबर-दिसम्बर '95 अंक प्राप्त हुआ। इस उत्तम प्रकाशन के लिए बधाई एवं धन्यवाद देता हूँ।

—डॉ० मण्डन मिश्र

कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

**

आपके द्वारा भेजी हुई 'प्राकृतविद्या' प्राप्त हुई। ज्ञानपिपासुओं के लिए उसमें बहुत सामग्री है।

—मफतलाल वी० दोशी, *सूरत*

**

'प्राकृतविद्या' का अंक प्राप्त हुआ। गैट-अप देखकर बहुत प्रसन्नता हुई। मुखपृष्ठ पर प्रकाशित विचारतुला का चित्र देखकर भी बहुत प्रसन्नता हुई। सही बात है कि हम सोच-समझकर और तौलकर अपने विचारों को प्रकट करें। अंक में लेखों का चयन अत्यधिक प्रभावशाली है। वास्तव में शौरसेनी प्राकृत ही असली प्राकृत है।

—अनूपचन्द्र जैन न्यायतीर्थ, *जयपुर*

**

'प्राकृतविद्या' का अंक मिला। इसके द्वारा आपने शोध-पत्रकारिता के क्षेत्र में एक स्वर्णरेखा खींची है। मौलिक, प्रामाणिक, पठनीय, सुरुचिपूर्ण, सर्वोपयोगी सामग्री का चयन एवं उसकी अधुनातन वैज्ञानिक प्रस्तुति आपकी प्रतिभा एवं साधना की परिचायक ही है। बधाई स्वीकार करें।

—अक्षय कुमार जैन, भारती ज्योतिषविद्या संस्थान, इन्दौर

**

'प्राकृतविद्या' (अक्टूबर-दिसम्बर '95) का अध्ययनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। वृन्दावन में ब्रज अकादमी के संस्थापक बाबा श्रीपाद जी महाराज ने भी इसकी बड़ी प्रशंसा की है। कवर पृष्ठ पर प्रकाशित वचन बड़े बोधयुक्त और अमृत-सन्देश के समान हैं। आचार्यश्री विद्यानंद मुनि, डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री और डॉ० राजाराम जैन के लेख भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

—जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल, *आगरा*

**

'प्राकृतविद्या' (अक्टूबर-दिसम्बर '95) में प्रकाशित 'जैनधर्म नास्तिक नहीं'—पढ़कर हार्दिक प्रसन्नता हुई। एक अंग्रेज लेखक ने जैनधर्म की बारीकियों को समझा है—यह हमारे लिए गौरव की बात है। लेखक तथा अनुवादक के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ। पत्रिका का मुखपृष्ठ भी बहुत सुन्दर और सारवान् है।

—विमला जैन, अपर कल्याण आयुक्त, *भोपाल*

**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'प्राकृतविद्या' का अक्तूबर-दिसम्बर '95 का अंक मिला। प्राकृतभाषा एवं उसके विपुल वाङ्मय से सम्बन्धित पत्रिका प्रकाशित कर आपने एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। डॉ० राजाराम जैन का लेख 'शौरसेनी प्राकृत का तापक्रम' अच्छा लगा। 'समयसार के पाठ' में प्रस्तुत पाठालोचन सुधीजनों के लिए मननीय है। प्राकृत व अपभ्रंश के प्राचीन ग्रंथों का मूलपाठ आज अधिकतर अनुमान से ही पढ़ा-समझा जा रहा है। प्राचीन प्रतियों और ग्रंथ की टीकाओं तथा उस पर प्रस्तुत चूर्णियों आदि को भली-भांति देखकर ही पाठ-निर्णय किया जाना चाहिए। इस विषय में मूल ताड़पत्रीय प्रति को ही प्रमाण मानना न्यायसंगत है। आचार्य जयसेन ने भी उसे ही स्वीकार कर टीका की है, अत: इसमें कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए। मैंने स्वयं जयसेन को ही आधार मानते हुए 'समयसार' का अध्ययन किया है और मुझे 'चेदगहि झायहि तं चेव' पाठ उपयुक्त जँचता है।

'प्राकृतविद्या' की शुद्ध एवं आकर्षक छपाई बहुत स्पृहणीय बन पड़ी है। हमारी हार्दिक बधाई स्वीकार करें। —डॉ० आनन्दमंगल वाजपेयी

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, राजकीय महाविद्यालय, डीडवाना, राजस्थान

**

'प्राकृतविद्या' का संपादक-मण्डल विद्वान् और परिश्रमी है। वह इस पत्रिका में उच्चस्तर की विचारणीय सामग्री देता है—यह बहुत प्रसन्नता की बात है। आचार्यश्री विद्यानन्द जी महाराज का चिंतन प्रत्येक अंक में रहता है—यह हमारा अहोभाग्य है। डॉ० सुदीप जैन के 'समयसार के पाठ' स्तम्भ से नई शोधदृष्टि प्राप्त हो रही है। अन्य लेखकों के लेख भी उच्च स्तर के है।

—प्रो० के०डी० मिश्रीकोटकर, *अमरावती*

**

'प्राकृतविद्या' के सभी लेख प्रामाणिक, ज्ञानवर्धक एवं रोचक हैं। 'समयसार के पाठ' स्तम्भ व्याकरणशास्त्र के अनुसार यथार्थ जानकारी प्रदान करते हुए भ्रान्तियों के निवारण के साथ भूलसुधार की प्रेरणा देता है। धर्म, दर्शन, इतिहास, प्राकृत भाषा विषयक शोध-लेखों से समन्वित यह पत्रिका पाठकों एवं अनुसन्धानकर्ताओं के लिए उपयोगी है। आकर्षक मुखपृष्ठ, शुद्ध मुद्रण, उत्तम कागज तथा उचित मूल्य की यह पत्रिका पठनीय, मननीय और संकलनीय है।

—जैनमित्र साप्ताहिक

(गुरुवार, 8 फरवरी 1996)

**

प्राकृतविद्या के सभी गवेषणात्मक लेख रोचक है, लेकिन आचार्यश्री विद्यानन्द मुनिकृत 'निष्प्रतिकार मरण' और 'दीक्षा और दीक्षाविधि' बहुत आकर्षक एवं तथ्यपूर्ण है।

—डॉ० लालचन्द जैन, *वैशाली*

**

कुन्दकुन्द भारती से जो 'प्राकृतविद्या' पत्रिका प्रकाशित हो रही है, वह स्तुत्य प्रयास है।

—क्षुल्लक शीतल सागर

**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाचार-दर्शन

श्रीमहावीरजी (राज०):– दि० 2 फरवरी से 4 फरवरी तक माँ श्री कौशल जी के सान्निध्य में श्री दिगम्बर जैन महासमिति की ओर से एक त्रिदिवसीय प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया गया, जिसमें समाज एवं राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित अनेक ज्वलन्त समस्याओं पर गम्भीरतार्वूक विचार किया गया। इसमें सर्वश्री शीलचन्द जैन जौहरी, कपूरचन्द पाटनी, साहू रमेशचन्द जैन आदि अनेक वक्ताओं ने अपने विचार व्यक्त किये। **

दिल्ली में पंचकल्याणक महोत्सव

दि० 26 जनवरी से 4 फरवरी तक बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-92 में आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के सान्निध्य में पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा महोत्सव का आयोजन किया गया। इसमें अनेकानेक भव्य कार्यक्रमों द्वारा भारी धर्मप्रभावना हुई। एक दिन रात्रि में कवि-सम्मेलन भी हुआ, जिसमें दिल्ली के भूतपूर्व मुख्यमंत्री मदनलाल खुराना भी पधारे। सभी आगन्तुकों ने इस महोत्सव के आयोजन की भूरि-भूरि प्रशंसा की। **

दिल्ली में दिगम्बर जैन-मन्दिरों के शिलान्यास

इन दिनों यहाँ यमुनापार के कई क्षेत्रों में नवीन दिगम्बर जैन मंदिरों एवं वेदी के शिलान्यास समारोहपूर्वक सम्पन्न हुये। प्रीत विहार में आचार्यश्री विद्यानन्द जी एवं मुनिश्री कनकोज्ज्वलनंदि जी के सान्निध्य में वेदी का शिलान्यास हुआ। गंगाविहार में उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी एवं मुनिश्री वैराग्यसागरजी के सान्निध्य में श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर का शिलान्यास हुआ। चन्द्रलोक, नत्थू कालोनी, शाहदरा में भी जैन महिला संत सत्यवती जी एवं सरला बहिन जी के सान्निध्य में दिगम्बर जैन मन्दिर का शिलान्यास हुआ! **

जैनदीर्घा का निर्माण

जैन विश्वभारती, लाडनूं में 'जैन विचार के उद्भव और विकास' पर प्रकाश डालनेवाली एक जैनदीर्घा का निर्माण किया जा रहा है। इसमें जैन इतिहास, वाङ्मय और शलाकापुरुषों का मुँह बोलता परिचय देने का प्रयास किया जा रहा है। इसमें आधुनिक साज-सज्जा के साथ जैनसंस्कृति को उजागर किया जाएगा। **

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार

निर्णायक मंडल के निर्णयानुसार प्रो० भागचन्द जैन 'भास्कर' अध्यक्ष–पालि प्राकृत विभाग, नागपुर वि०वि०, नागपुर को उनकी कृति 'जैन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व' (अप्रकाशित) पर प्रदान करने का निर्णय किया गया। इस पुरस्कार के अन्तर्गत निर्धारित विषय पर निश्चित समयावधि में लिखी श्रेष्ठ पुस्तक के लेखक को रु० 25,000/- नगद, प्रशस्ति पत्र, शाल एवं श्रीफल भेंट कर सम्मानित किया जाता है।

पुरस्कार समर्पण समारोह गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी के मंगल सान्निध्य में 12-13 मार्च '96 के मध्य आयोजित किया जाना प्रस्तावित है। *–डॉ० अनुपम जैन* **

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्हत्वचन के पुरस्कृत आलेख

वर्ष 7 (1995) में प्रकाशित 'अर्हत् वचन' के 4 अंकों में प्रकाशित समस्त आलेखों के मूल्यांकन हेतु मानित एक त्रिसदस्यीय निर्णायक मंडल के अनुसार

प्रथम पुरस्कार – आचार्य राजकुमार जैन, नई दिल्ली से 'श्रुत परम्परा में आयुर्वेद', लेख पर,

द्वितीय पुरस्कार – डॉ॰ अजित कुमार जैन, विदिशा (म॰प्र॰), 'पौद्गलिक स्कन्धों का वैज्ञानिक विश्लेषण', लेख पर

तृतीय पुरस्कार – प्रो॰ ए॰ सुन्दर, बीजापुर 'Some Aspects of Jaina Art in Karnataka-Architecture & Sculpture', लेख पर प्रदान किया जायेगा।

—डॉ॰ अनुपम जैन **

'नैतिक चिन्तन' का विमोचन

नई दिल्ली 14 ज़नवरी। पी॰एस॰ फाउन्डेशन द्वारा आयोजित सभा में आचार्यश्री विद्यानन्द जी ने बताया कि "मानवता सबसे बड़ा धर्म है। उन्होंने कहा कि आज सज्जन वही है, जो दूसरों पर उपकार करे। आचार्यश्री ने आगे कहा कि कर्तव्य ही धर्म होता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का पालन करना चाहिए। जो व्यक्ति अपनी संस्कृति और साहित्य की रक्षा करता है, और मुसीबतों में भी मुस्कराता है, वही धर्मात्मा है।

आचार्यश्री 'नैतिक चिंतन' का लोकार्पण करते हुए। साथ में है दिल्ली विधानसभा के अध्यक्ष श्री चरतीलाल गोयल

समारोह में फाउन्डेशन द्वारा प्रकाशित 'नैतिक चिन्तन' का विमोचर आचार्यश्री विद्यानन्द जी ने किया तथा पुस्तक के लेखक आकाशवाणी महानिदेशालय के उपनिदेशक श्री वीरेन्द्र गोहिल को साहित्य और संस्कृति के संवर्द्धन में उत्कृष्ट योगदान के लिए प्रशस्ति-पत्र एवं शाल भेंट किया गया। 'दिल्ली चेशायर होम' के अध्यक्ष श्री मेजर जनरल वीरेन्द्र सिंह को प्रशस्ति-पत्र सरस्वती की मूर्ति और इक्यावन हजार रु॰ का चैक दिल्ली विधानसभा के अध्यक्ष श्री चरतीलाल गोयल ने फाउन्डेशन की ओर से भेंट करके सम्मानित किया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुख्य अतिथि श्री चरतीलल गोयल के राष्ट्रीय हित में अपने कर्तव्य के पालन पर जोर दिया और स्व० प्रताप सिंह जैन सदृश महापुरुषों के जीवन से प्रेरणा लेने की सलाह दी।

फाउन्डेशन के अध्यक्ष, श्री रमेशचन्द जैन ने आचार्यश्री एवं सभी अतिथियों का स्वागत किया और पुरस्कार की योजना पर प्रकाश डाला।

सुप्रसिद्ध गीतकार श्री ताराचन्द प्रेमी ने कविता पाठ किया। श्री हरिचरण वर्मा निदेशक आकाशवाणी ने मंगलाचरण प्रस्तुत किया। —सतीश जैन

**

आर्यिका श्री सुपार्श्वमती माताजी द्वारा मध्यलोक शोध संस्थान की स्थापना

परमाध्यात्मतरांगिणी, नयविवक्षा, जिनगुण-सम्पत्ति-विधान आदि अनेक ग्रन्थों की रचनाकार और अनेक शास्त्रों की टीकाकार आर्यिका श्री सुपार्श्वमती माताजी ने आसाम, नागालैण्ड, बिहार,

बंगाल, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, कर्नाटक, आंध्रप्रदेश आदि प्रान्तों में विहार और चातुर्मास करके जैनधर्म की भारी प्रभावना की है। विशेषत: इन प्रान्तों के ऐसे-ऐसे स्थानों पर जहाँ कभी कोई दिगम्बर मुनि या आर्यिका नहीं पहुँचे, वहाँ पर भी आपने जैनधर्म का जयघोष किया।

माता जी की प्रेरणा से शिखरजी में मध्यलोक की भव्य रचना हुई है—यह बहुत ही उत्तम कार्य है। इसमें 458 अकृत्रिम जिनमन्दिरों के दर्शन प्राप्त होते हैं। यह रचना बहुत अनूठी, अद्वितीय, आकर्षक और शास्त्रसम्मत है। इसमें मध्यलोक की सम्पूर्ण रचना को दर्शाने का प्रयास किया गया है। इसप्रकार यहाँ स्थापित किया गया मध्यलोक-शोध-संस्थान बहूपयोगी है। **

इन्दौर में प्राकृतभाषा-प्रशिक्षण शिविर

श्री कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ शोध संस्थान द्वारा इन्दौर में 2 सप्ताह के प्राकृतभाषा प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया गया, जिसमें 32 विद्यार्थियों ने प्राकृतभाषा का मनोयोग से अध्ययन किया। अध्यापन-कार्य डॉ० गोकुलचन्द्र जैन वाराणसी, डॉ० संगीता मेहता इन्दौर एवं ब्रह्मचारी चन्द्रशेखर जी ने किया। —डॉ० अनुपम जैन

**

इंग्लैंड में कठपुतली कार्यक्रम

मार्च के प्रथम सप्ताह में जिनेन्द्र कला भारती, भीलवाड़ा द्वारा ग्लास्गो (स्काटलैण्ड-इंग्लैंड) में अनेक कठपुतली कार्यक्रम प्रस्तुत किये जाएंगे, जिनके द्वारा दर्शकों में शाकाहार एवं जैनधर्म के प्रति आस्था उत्पन्न की जायेगी। —निहाल अजमेरा

**

डॉ० कमलचन्द सोगानी को आचार्य कुन्दकुन्द पुरस्कार

दर्शनशास्त्र और प्राकृत अपभ्रंशादि अनेक भारतीय भाषाओं के विद्वान् डॉ० कमलचन्द्र सोगानी को सेठ लालचन्द दोशी की पुण्यस्मृति में उनके परिजनों द्वारा स्थापित न्यास द्वारा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रवर्तित इस वर्ष का आचार्य कुन्दकुन्द पुरस्कार प्रदान करने का निर्णय लिया है। यह निर्णय पुरस्कार समिति के समस्त पदाधिकारियों से पूर्ण परीक्षण एवं विचार विमर्श के उपरान्त लिया है। समिति के सदस्यों के समक्ष कुछ नाम विचारार्थ प्रस्तुत हुए थे, किन्तु चयन समिति के अध्यक्ष, प्रो० मण्डन मिश्र, कुलपति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ने प्रो० सोगानी का नाम अंतिमरूप से स्वीकृत किया। पुरस्कार समिति के पदाधिकारियों में श्रीमती ललिता दोशी (संरक्षक), श्री विनोद दोशी (अध्यक्ष), डॉ० मण्डन मिश्र (अध्यक्ष चयन समिति), श्रीमती सरयू दफ्तरी (सदस्य), श्रीमती सरयू दोशी (सदस्य), श्री चकोर दोशी (सदस्य), श्री अरविंद दोशी (सदस्य) के नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ० सोगानी जी को यह पुरस्कार शीघ्र ही दिल्ली में भव्य समारोहपूर्वक प्रदान किया जायेगा। **

द्विदिवसीय आचार्य कुन्दकुन्द-स्मृति व्याख्यानमाला का आयोजन

दि० 15 और 16 फरवरी 1996 को यहाँ श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय) में आचार्यश्री विद्यानन्दजी महाराज के सान्निध्य में द्विदिवसीय आचार्य कुन्दकुन्द स्मृति व्याख्यानमाला का आयोजन किया गया, जिसमें जैनदर्शन के अन्तर्राष्ट्रिय विद्वान् भाषाशास्त्री प्रो० नथमल टाँटिया ने दो सत्रों में 'भारतीय भाषाशास्त्र एवं शौरसेनी प्राकृत' और 'शौरसेनी प्राकृत एवं संस्कृत में पारस्परिक संबंध' शीर्षकों से दो शोधपत्रों का क्रमशः वाचन किया।

समारोह के दोनों सत्रों की अध्यक्षता क्रमशः डॉ० प्रेमसिंह (अध्यक्ष भाषाविज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) एवं डॉ० विमल प्रकाश जैन (जबलपुर विश्वविद्यालय) ने की। मुख्य अतिथि के रूप में साहू रमेशचन्द जी जैन पधारे।

इस अवसर पर आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज ने कहा कि शौरसेनी प्राकृत अन्य समस्त प्राकृतभाषाओं की मूलप्रकृति है, उनकी जननी है; अन्य समस्त प्राकृतों ने इसी से अपना स्वरूप निर्माण किया है। प्राकृत-वैयाकरणों ने अन्य मागधी, पैशाची आदि प्राकृतों के बारे में परिचय देते हुए 'प्रकृतिः शौरसेनी' कहकर इस तथ्य की पुष्टि की है। यह भाषा संस्कृत से अत्यधिक साम्य रखती है तथा इसे ही 'साहित्यिक प्राकृत' के रूप में साहित्यकारों ने स्वीकार किया है। वस्तुतः शौरसेनी प्राकृतभाषा में निबद्ध साहित्य में भारतीय संस्कृति, दर्शन, कला, इतिहास एवं ज्ञान-विज्ञान के अनेकों अज्ञात रहस्य छिपे हुये हैं, जिनका ज्ञान शौरसेनी प्राकृतभाषा एवं उसके साहित्य के विशद अध्ययन-अनुसन्धान एवं प्रचार-प्रसार के बिना नितान्त असम्भव है।

प्रो० नथमल टाँटिया ने प्राकृतभाषा के स्वरूप एवं महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा कि "शौरसेनी प्राकृत ही प्राचीनकाल में सामान्यतः 'प्राकृत' संज्ञा से व्यवहृत होती थी। न केवल नाट्य-साहित्य अपितु प्राचीन आगम-साहित्य की भाषा भी शौरसेनी प्राकृत ही थी।" प्रो० टाँटिया ने स्पष्ट किया कि समस्त प्राचीन जैन आगमग्रंथ एवं बौद्धग्रंथ भी पहिले शौरसेनी प्राकृत में ही निबद्ध थे। दिगम्बर जैन आगम साहित्य एवं श्वेताम्बर जैन आगम साहित्य के निर्माण का प्रमुख केन्द्र मथुरा क्षेत्र रहा और बौद्ध महासंघ का भी स्थान यही क्षेत्र था; तथा चूंकि शौरसेनी प्राकृत का भी केन्द्रस्थल मथुरा क्षेत्र ही रहा, अतः इन तीनों के मूलग्रन्थों की माध्यमभाषा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शौरसेनी रही। बौद्धग्रन्थों की भाषा को 'पालि' संज्ञा दिये जाने का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने कहा कि वास्तव में 'पालि' नाम की कोई भाषा नहीं थी, यह तो अंग्रेजों द्वारा दिया गया बौद्धग्रंथों के संग्रहस्थान का सूचक एक नामकरण था, जिसे भाषा का नाम समझ लिया गया। बौद्धों की मूलभाषा तो शौरसेनी ही थी, जो कि मागधीभाषा की आधारभाषा रही। इसीकारण आचारांग आदि श्वेताम्बर मूलग्रंथों एवं बौद्ध-त्रिपिटकों को भाषा का मूलरूप शौरसेनी प्राकृत में ही निबद्ध था, जो कि समय के साथ क्षेत्रीय प्रभाव आदि कारणों से बदलता गया।

शौरसेनी प्राकृत के प्रति विगत कई वर्षों से समर्पित साहू श्री रमेशचन्द जैन ने कहा कि "जब से मैं शौरसेनी प्राकृत से परिचित हुआ हूँ और जुड़ा हूँ, तब से मुझे नित्यप्रति इसकी अधिकाधिक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गरिमा का परिचय मिला है। विविधतापूर्ण और विपुल साहित्य भण्डार से समृद्ध होते हुए भी यह भाषा आज इतनी उपेक्षित रही है कि लोग इसके नाम से भी प्राय: अपरिचित है। मैं प्रयत्नरत हूँ कि इस भाषा के विकास के लिए एक अकादमी की स्थापना की जाए। मुझे अत्यन्त प्रसन्नत है कि आचार्यश्री विद्यानन्द जी की प्रेरणा से विगत कुछ वर्षों से 'प्राकृतविद्या' नामक शोध पत्रिका का सुन्दर प्रकाशन किया जा रहा है, जिसमें प्राकृतभाषा से सम्बन्धित उच्चस्तरीय सामग्री प्राप्त होती है। इस भाषा के अध्ययन के लिए विश्वविद्यालय स्तर पर ठोस प्रयास किये जाने अपेक्षित हैं और इस कार्य के लिए प्रो० वाचस्पति उपाध्याय जैसे विद्याव्यसनी समर्थ व्यक्ति ही उपयुक्त माध्यम प्रस्तुत कर सकते हैं।''

विद्यापीठ के कुलपति प्रो० वाचस्पति उपाध्याय ने भी अपने स्वागत भाषण में कहा कि "आचार्यश्री विद्यानन्द जी की पावन प्रेरणा से ही इस संस्कृत विद्यापीठ में संस्कृत और प्राकृत– इन दो बहिनों जैसी भाषाओं का समवाय संभव हो रहा है। मेरी आकांक्षा और चेष्टा है कि यहाँ संस्कृत के समान प्राकृत, पालि एवं बौद्धदर्शन के अध्ययन की भी व्यवस्था हो।'' उन्होंने घोषणा भी की कि "अगले सत्र से इस विद्यापीठ प्राकृतभाषा का स्वतंत्र विभाग कार्य करेगा।"

प्राकृतभाषा और साहित्य के सम्बन्ध में इसीप्रकार के विचार समारोह के मुख्य अतिथि डॉ० प्रेमसिंह, डॉ० विमलप्रकाश जैन एवं डॉ० प्रेमसुमन जैन ने भी व्यक्त किये। पं० जयकुमार उपाध्ये और श्री हरिचरण वर्मा ने इस समारोह में प्राकृत-संस्कृत के संगीतमय काव्य-पाठ द्वारा श्रोताओं के हृदय को जीत लिया।

सम्पूर्ण समारोह का संयोजन और संचालन विद्यापीठस्थ के जैनदर्शन विभाग के अध्यक्ष डॉ० सुदीप जैन ने किया। **

समुद्र के खारे पानी को मीठा बनाने का संयंत्र

महाराष्ट्र के युवा वैज्ञानिक श्री बापूसाहेब पाटील ने अभी-अभी एक ऐसा संयंत्र तैयार किया है, जो समुद्र के खारे पानी को शुद्ध करके पीने योग्य मीठा बना देता है। इस संयंत्र की क्षमता एक दिन में 40,000 लीटर पानी को शुद्ध करने की है। यह यंत्र अभी वाष्प इंडस्ट्रीज ठाणे की ओर से ऑयल एण्ड नेचुरल, गैस बम्बई के लिए बनाया है। श्री पाटील का महाराष्ट्र के अनेक मंत्रियों और दैनिक समाचार पत्रों ने बहुत गुणानुवाद किया है। इस होनहार युवा वैज्ञानिक को प्राकृतविद्या की ओर से हार्दिक बधाई! **

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'प्राकृत विद्या' के सम्बन्ध में तथ्य-सम्बन्धी घोषणा

प्रकाशन स्थान	:	18 बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-67
प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
प्रकाशक	:	सुरेश चन्द्र जैन
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	कुन्दकुन्द भारती 18 बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-67
मुद्रक	:	महेन्द्र कुमार जैन
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	कुन्दकुन्द भारती 18 बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-67
सम्पादक	:	डॉ० सुदीप जैन
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	कुन्दकुन्द भारती 18 बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-67
स्वामित्व	:	सुरेशचन्द्र जैन मन्त्री, कुन्दकुन्द भारती 18 बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-67

मैं सुरेशचन्द्र जैन एतद्द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य हैं।

सुरेशचन्द्र जैन
प्रकाशक

प्राकृतविद्या के स्वत्वाधिकारी एवं प्रकाशक श्री सुरेशचन्द्र जैन, मंत्री, श्री कुन्दकुन्द भारती, 18 बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-67 से प्रकाशित एवं मुद्रक श्री महेन्द्र कुमार जैन द्वारा, प्रिंटैक्सेल, (फ़ोन-6852255) नई दिल्ली-67 से लेज़र टाईपसैटिंग कराके, जे०के० ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली-6 द्वारा मुद्रित।

भारत सरकार पंजीयन संख्या 48869/89

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिनांक 15 एवं 16 फरवरी '96 को श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली-16 में सम्पन्न द्वितीय आचार्यश्री कुन्दकुन्द व्याख्यानमाला के भव्य दृश्य।

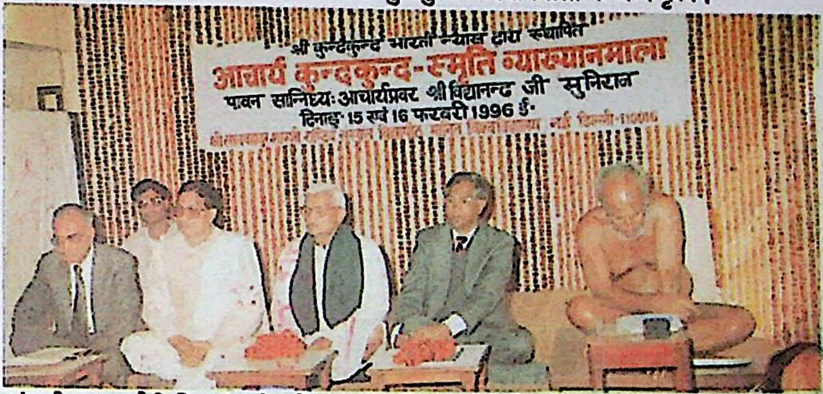

मंचासीन आचार्यश्री विद्यानंद जी मुनिराज, प्रो० विमलप्रकाश जैन, मुख्यवक्ता प्रो० नथमल टाँटिया, कुलपति प्रो० वाचस्पति उपाध्याय, साहू श्री रमेशचंद जी जैन एवं डॉ० सुदीप जैन।

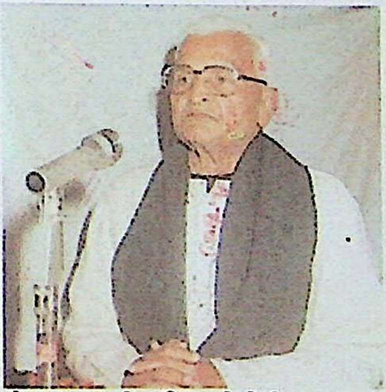

प्रो० नथमल जी टाँटिया शौरसेनी प्राकृत पर अपने गवेषणापूर्ण विचार प्रस्तुत करते हुए।

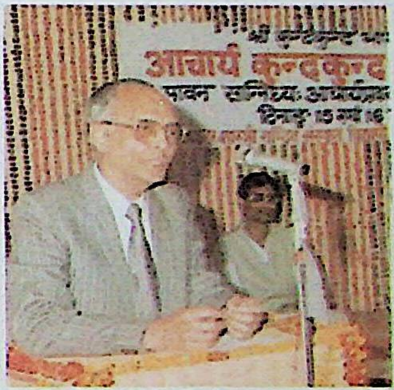

मुख्य अतिथि पद से बोलते हुए साहू श्री रमेश चन्द्र जी जैन

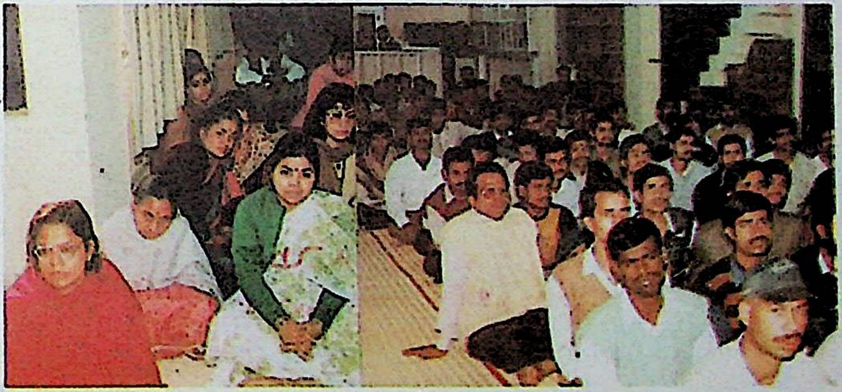

समागत श्रोता समूह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारत के पड़ौसी राष्ट्र नेपाल की राजधानी काठमांडू में नवनिर्मित विशालकाय भव्य जिनालय का विहंगम दृश्य। अप्रैल '96 में इसका पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव सम्पन्न होने जा रहा है।

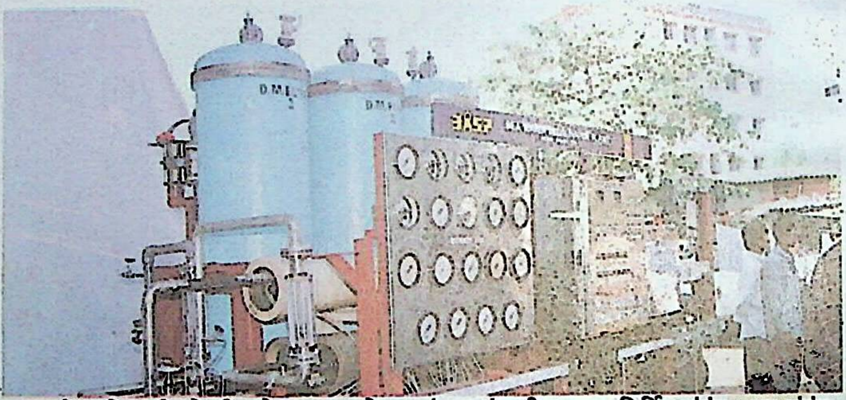

समुद्र के खारे पानी को मीठा पेयजल बनानेवाला 'वाष्प इंडस्ट्रीज' द्वारा निर्मित संयंत्र। यह संयंत्र प्रतिदिन 40,000 लीटर समुद्री जल को पेयजल में परिवर्तित करता है।

ऊपर के संयंत्र के निर्माता श्री बापू साहब पाटील (मध्य में) उद्योग राज्यमंत्री श्री प्रभाकर मोरे (भाषण करते हुए), श्रममंत्री श्री साबीर शेख, एवं ठाणे के आयुक्त श्री मधुसूदन टांकसाळे के साथ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

With Best Compliments

from

Siddharth Interiors

INTERIOR DESIGNERS & FURNISHERS

25, Panscheel Park, Shopping Complex,
New Delhi - 110017.
Tel.: 6442075, 6460803

**HIGH CLASS INTERIORS
WITH DESIGN PACKAGE
FOR RESIDENCES, OFFICES,
FARM HOUSES, VILLAS ETC.**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाव सनातन और सार्वभौमिक है—भावों को केवल विभिन्न भाषाओं में ही अभिव्यक्त किया जाता है और हमारे भाषाई वैविध्य में जो एक उल्लेखनीय तथ्य है वह है—अन्य भाषाओं से लाये गये शब्द और एक सहज तत्परता से इनका हमारी भाषाओं में घुल-मिल जाना, समाहित हो जाना। यदि किसी भी भाषा को कायम रहना है, फैलना है और फलना-फूलना है, तो व्यापक स्तर पर पारस्परिक व्यवहार, आदान-प्रदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है—अभी बहुत कुछ हासिल किया जाना है।

☆

भाषा की एक सांझी आत्मा है, इसे
जीवन्त बनाये रखिये।

☆

नवभारत टाइम्स प्रकाशन-समूह

की

शुभकामनाओं सहित

☆ ☆ ☆

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

With
Best
Compliments
From

P.H. Kumar & Co.

6/18, Ajmal Khan Road
Karol Bagh, New Delhi-110005

Agents For –

M/s Allen Solly, England

Deals in : **Gents Readymade Garments**

☎ 5723763, 7217118, 7410154
Fax : 7246147

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुभ कामनाओं सहित :

सब मॉडल
हमेशा उपलब्ध !
तुरन्त डिलीवरी

केवल गौतम पर

50% दीजिए
शेष ब्याज फ्री
6 किश्तों में
बिना गारन्टर

bajaj

100% फायनान्स
@ 9.5% p.a. (flat)
(बी ए एफ एल द्वारा)
(रविवार खुला है)

बिक्री कर
केवल 6%
बचाएं रु. 800/- तक

चेतक, चेतक मेटैलिक, सुपर, सुपर FE,
सनी, कावासाकी बजाज मोटर साइकिल

पूरी जानकारी के लिए सम्पर्क करें:

गौतम ऑटो मोटर्स

स तिलक नगर : 4ए/4, नजफगढ़ रोड, पानी की टंकी के पास, फोन : 5455310, 593386
स ओखला फेस-2 : ई-41/6, इण्डस्ट्रियल एरिया, फोन : 633284, 6841156
स आर.के.पुरम : रिंग रोड, भीकाजी कामा प्लेस, फोन : 672197, 673298
स राणा प्रताप बाग : बी-81, जी.टी. करनाल रोड, इण्डस्ट्रियल एरिया, फोन : 7218240, 7113408

बजाज की शान ~ गौतम के साथ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'विजने जनसंकीर्णे, सुस्थिते दु:स्थितेऽपि वा।
सर्वत्राप्रतिबद्धः स्यात्संयमी संगवर्जितः।।'

—आचार्य शुभचंद्र, ज्ञानार्णव 16/34

अर्थ—भीड़ हो अथवा निर्जन स्थान हो, अच्छी या बुरी कैसी भी स्थिति हो; जो संयमी निसंग पुरुष हैं, वे प्रत्येक परिस्थिति में अप्रभावित रहकर आत्मसाधना में लीन रहते हैं।

परमपूज्य आचार्य श्री विद्यानन्द मुनि

भारत रेडिएटर्स लिमिटेड

ऑफिस.
८१. बजाज भवन
नरिमन पॉइंट.
मुंबई–४०००२१
दूरभाष: २०२००८५/२०२१४२७
ग्राम: : स्मूथरन
टैलेक्स : ०११-४६६१

फैक्टरी
विद्यानगरी मार्ग
सांताक्रुज (पूर्व)
मुंबई–४०० ०९८
फोन: ६१२२९६५/६१२३४५७
ग्राम : प्रैसवर्क

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्या साधना जनपद में नहीं हो सकती?
क्या जंगल के एकान्त में ही साधना संभव है?
क्या साधना क्षेत्र भी प्रतिबद्ध है? इसका उत्तर–

थिरकय जोगाणं पुण, मुणीणज्झाणेसु णिच्चलमणाणं।
गामम्मि जणाइण्णे, सुण्णे रण्णे य ण विसेसो।।

–आचार्य वीरसेन धवला पु० 13/18

अर्थ—जिन्होंने अपने योगों को स्थिर कर लिया है तथा जिनका मन निश्चल है, ऐसे मुनिराजों के लिए मनुष्यों से व्याप्त जनपद, ग्राम और शून्य जंगल में कोई अन्तर नहीं है।

❖❖❖

Exporters of Hi-fashion Garments & Accessories

Manish Jain
K-3 Green Park Main Ist Floor.
New Delhi –110 016
Tel.: 91-11-6858973, 6858974
Fax No.: 91-11-6854610

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

With best compliments from :

S.C.J. Plastics Ltd.

F-3/10&11, OKHLA INDUSTRIAL AREA PHASE-I, NEW DELHI-110020
HOUSE OF PLASTIC QUALITY PRODUCTS

- MASTERBATCHES FOR LD, HD, HM, PP, PVC FOR MAJOR APPLICATIONS LIKE FILM, INJECTION & BELOW MOULDING, PP FIBERS, TELECOM CABLES & SHOES.
- SPECIAL MASTERBATCHES FOR PS, HIPS, ABS & OTHER ENGG. PLASTICS.
- PROPERTY MASTERBATCHES INCLUDING ANTIFBRILATION & UV ABSORBANTS.
- SPECIAL CABLE COMPOUNDS-FRLS & HALOGEN FREED FLAME RETARDENT ETC.

✆ : 6815566, 6819400, 6818181 FAX : 91-011-6814455

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किसी पत्र पत्रिका में
छोटा सा स्थान

साथ ही थोड़ा सा
हमारा योगदान

परिणाम ?
एक भविष्य महान

Sharad Advertising Pvt. Ltd.

96 , Rashid Market, Delhi-110051
Ph: 2212364, 2249547, 2247589 Fax: 2228308

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

A NAME TO RECKON WITH
IN RIGID P.V.C. PIPES

IS : 4985

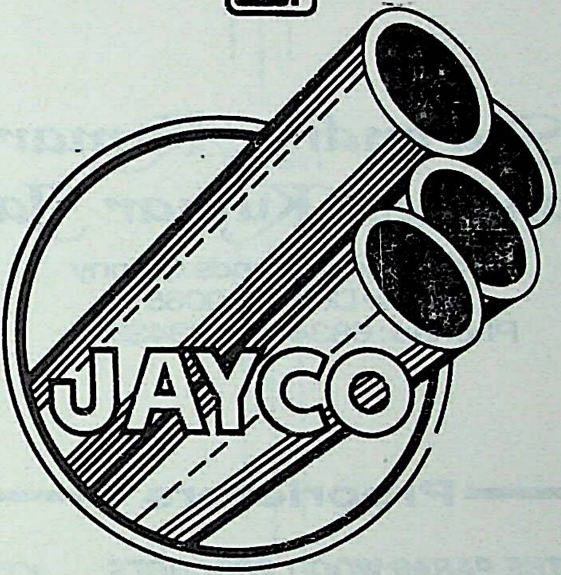

JAYCO PIPES PVT. LTD.
Works : 58/3. Site IV. Industrial Area. Sahibabad. Ghaziabad
U.P. 201010 Ph. : 8770932-33
Regd. Office : E-11. Krishan Nagar. Delhi-110051
Ph. : 2203831. 2243831. FAX 2226331

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

With Best Compliments From

Surendra Kumar
Sandeep Kumar Jain

B-499, New Friends Colony
New Delhi-110065
Phones : 6834421, 6843621

Proprietors

- ***THE PARAS WOOD PRODUCTS***
  Mfrs. Sewing Machine Wood Work,
- *PARAS Appliances*
  Mfrs. Water Geysers & Room Coolers
- *Home Appliances*
  Mfrs. A.C.-D.C. F.H.P. Electric Motors

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

With Best Compliments

From

Padma Gems Jewellers

9-A SUNDER NAGAR MARKET,
NEW DELHI-110003, INDIA

TEL.: 4611513, 4611202
FAX: 91-11-4627513

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रामेऽरण्यमिति द्वेधा, निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मानां निवासस्तु, विविक्तात्मैव निश्चलः।।

—आचार्य पूज्यपाद, समाधितन्त्र 73

अर्थ—जो अनात्मदर्शी संसारी प्राणी हैं, वे गाँव अथवा जंगल में निवास करने में भेददृष्टि रखते हैं; किन्तु जो आत्मदर्शी साधक हैं, वे पर से विभक्त निजशुद्धात्मतत्त्व में ही निश्चलरूप से निवास करते हैं।

With Best Compliments From :

5174

Manufactures

PAPER & BOARD
COLOURED TRIPLEX FILE BOARD

Magnum Paper (P) Ltd.
18/31, Site No.4. Sahibabad (U.P.) Tel.: 8770421

Delhi Paper Co.
685, Chitla Gate, Chawri Bazar Delhi-6 Tel.: 3264503, 3261179

Res.: 3/4326, Ansari Road, Darya Ganj, New Delhi-110002
Tel.: 3265375, 3267209

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुभकामनाओं सहित

पी०आर०जे० इन्टरप्राइज़र्स

अधिकृत विक्रेता :

(सेल-सर्विस-स्पेयर्स)

पाल प्रीमियर लिमिटेड

(उनो, प्रीमियर पद्मिनी एवं प्रीमियर डीजल कार)

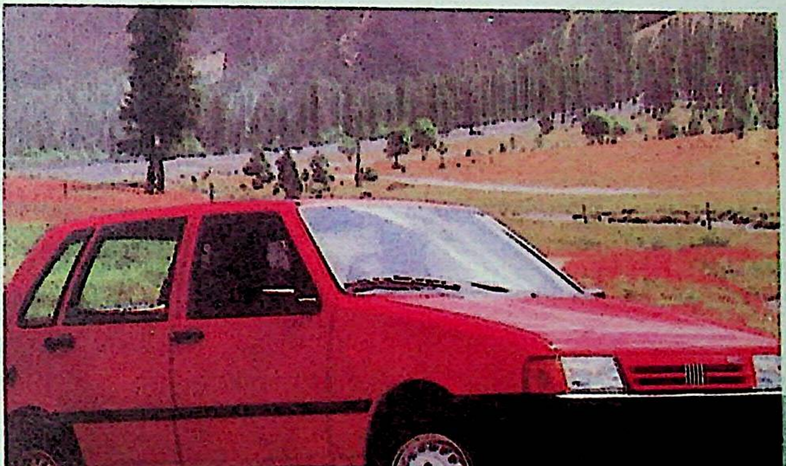

शोरूम :

ए-5, नजफगढ़ रोड़, कीर्ति नगर (छोटेलाल पार्क)

नई दिल्ली-110015

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

A treasure trove of shopping. A delight for the family with a sweep of tantalizing Readymades, Gifts, Novelties, Tempting Household Linen, Made-ups, Accessories Handicrafts, Watches and Jewellery.

amorino™

PERFECT SHOPPING

EIC HOUSE, HAUZ KHAS, AUROBINDO MARG, NEW DELHI-110016

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi